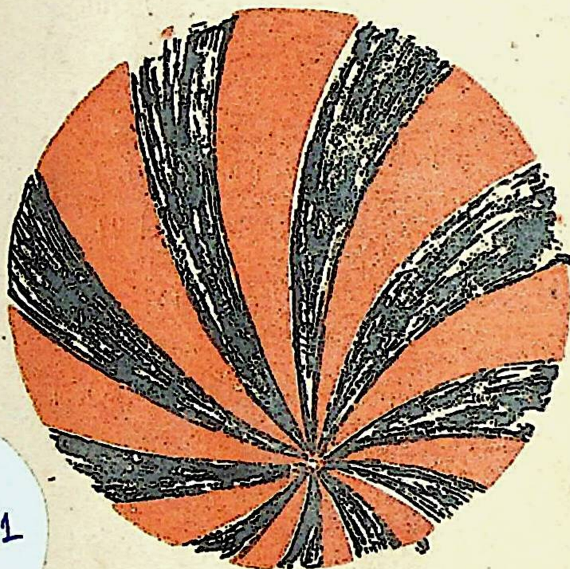


विविधा

डॉ० श्रद्धानंद



विविधा

(रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण और यात्रावृत्त)

डॉ० श्रद्धानंद
प्राध्यापक, हिन्दी
काशी विद्यापीठ, वाराणसी



अमृत प्रकाशन
ईश्वरगंगी, वाराणसी

प्रकाशक : अमृत प्रकाशन
के० ६७/८१ ए-१ भरत मिलाप कालोनी
ईश्वरगंगी, वाराणसी

संपादन : डॉ० श्रद्धानंद
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मूल्य : चौदह रुपये

मुद्रक : सीमा प्रेस
ईश्वरगंगी, वाराणसी

कृतज्ञता - प्रकाश

प्रस्तुत संग्रह में गद्य की नवीनतम विधाओं—रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण और यात्रावृत्त—को संकलित किया गया है। इन विधाओं की एक-एक प्रतिनिधि रचनाएँ संकलन में प्रस्तुत है। इस संकलन में जिन रचनाकारों की सामग्री ली गयी है उनका मैं विशेष आभारी हूँ।

इस संकलन की प्रेरणा मुझे डॉ० व्रजविलास श्रीवास्तव, हिन्दी विभागाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ से मिली। सामग्री उपलब्ध कराने में डॉ० रामकुँवर राय का सहयोग मिला। डॉ० श्रीवास्तव तथा डॉ० राय को धन्यवाद देने की मैं धृष्टता नहीं कर सकता।

इस संकलन की पूर्णता में श्री कृपाशंकर शुक्ल एवं डॉ० निर्मला देवी श्रीवास्तव का निरंतर सहयोग मिला।

अन्त में मैं प्रकाशक और मुद्रक को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनके बिना यह संकलन पुस्तकाकार में आना संभव नहीं था। मुद्रण में यदि कहीं त्रुटि रह गयी हो तो इसके लिए सुधीजन क्षमा करेंगे।

—श्रद्धानंद

अनुक्रमणिका

गद्य विधाओं का स्वरूप और विकास

(रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण और यात्रा वृत्त)

रेखाचित्र

रेखाचित्र अंग्रेजी के स्केच (Sketch) का पर्यायवाची है। रेखाचित्र शब्द चित्रकला के क्षेत्र से आया है। रेखाचित्र चित्रकला की एक शैली है। इसमें रेखाओं से ही आकृति और उसके भावों तथा क्रियाओं का चित्रण किया जाता है। इसमें रंगों का प्रयोग नहीं होता है। इस तथ्य को विजय शंकर मल्ल ने स्पष्ट लिखा है—'रेखाचित्र का सामान्य अर्थ है केवल रेखाओं से बनाया हुआ चित्र या ढाँचा। इसमें केवल रेखाएँ ही होती हैं, रंगों का भराव नहीं होता। पर ये रेखाएँ आलेख्य की बनावट का मौलिक आधार प्रस्तुत करती हैं।'—(रेखायन की भूमिका से)। इस प्रकार रंगमय चित्रों में वर्ण्य विषय-वस्तु या व्यक्ति-के रेखा निर्मित आकार के बीच बनावटों एवं भावोद्वेगों की अभिव्यक्ति हेतु रंगों को भी माध्यम बनाया जाता है। अर्थात् रंगीन चित्रों में रेखाओं के बीच के अन्तराल को रंगों से भरा जाता है जब कि रेखाचित्र में केवल रेखाएँ ही व्यक्ति या वस्तु के बनावटों एवं भावोंद्वेगों को अभिव्यक्त करती हैं। रंगमय चित्र बिना किसी रूपाकार के मात्र रंगों से भी चित्रित्र की जा सकती है जब कि रेखाचित्र बिना रेखाओं के नहीं।

रेखाचित्र गद्य की एक नवीन विधा है। चित्रांकन की दृष्टि से रेखाचित्र कहानी से मिलता जुलता गद्य रूप है। रेखाचित्र कहानी की अपेक्षा एक

ठोस और यथार्थवादी भूमि पर निर्मित होता है उसमें कल्पना का आश्रय कम लिया जाता है। लेखक उन व्यस्त क्षणों में रेखाचित्र का निर्माण करता है जब अपनी भावनाओं को अलंकृत रूप में प्रस्तुत करने का उसके पास कोई अवकाश नहीं होता। इसलिए उसमें कहानी जैसी रंगीन चित्रों का रंगमयता एवं चित्रण की विविधता नहीं होती।

रेखाचित्र के लिए अनेक नाम—व्यक्ति चित्र, चरित्र-लेख, शब्द चित्र आदि—मिलते हैं परन्तु रेखाचित्र ही सबसे अधिक उपयुक्त एवं सफल अर्थ-वाहक लगता है। पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने रेखाचित्र की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। ए हैण्ड बुक आफ लिटरेरी टर्म्स में कहा गया है—'स्केच (रेखाचित्र) एक लघु नाटक, कहानी अथवा चरित-विवरण होता है।' शिप्ले ने रेखाचित्र के सम्बन्ध में कहा है—'रेखाचित्र में कहानी जैसी गहराई नहीं होती। उसमें कथात्मकता का गौण स्थान हो सकता है और मनोवैज्ञानिक परिवेश पर अधिक बल दिया जा सकता है।'[1] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार रेखाचित्र किसी व्यक्ति वस्तु घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन है। कहानी से इसका बहुत अधिक साम्य है। दोनों में क्षण, घटना या भाव विशेष पर ध्यान रहता है। दोनों की रूपरेखा संक्षिप्त रहती है और दोनों में कथाकार के नैरेशन (वर्णन) और पात्रों के संलाप का प्रसंगानुसार उपयोग किया जाता है। इन विधाओं के साम्य के कारण अनेक कहानियों को रेखाचित्र कह दिया जाता है और इसके ठीक विपरीत अनेक रेखाचित्रों को कहानी की संज्ञा प्राप्त हो जाती है।'[2]

डॉ० भगीरथ मिश्र रेखाचित्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—"अपने संपर्क में आये किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा संवेदना को जगाने वाली सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी स्वरूप की देखी, सुनी या संकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार

१. शिप्ले—डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स, शार्ट स्टोरी पृ० ३६३।

२. हिन्दी साहित्य कोश भाग-१—संपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ७३१।

उभार कर रखना कि उसका हमारे हृदय में एक निश्चित प्रभाव अंकित हो जाय, रेखाचित्र या शब्द चित्र कहलाता है।[1] डॉ० हरवंशलाल शर्मा के अनुसार—'रेखाचित्र किसी एक व्यक्ति, स्थान, घटना, दृश्य या उपादान का ऐसा वस्तुगत वर्णन होता है, जो संक्षेप में उसकी बाह्य विशेषताओं को प्रस्तुत करता है। बाह्य विशेषताओं के भीतर ही उसकी आंतरिक विशेषताओं का समाहार हो जाता है।'[2]

इस प्रकार रेखाचित्र किसी व्यक्ति वस्तु, घटना या भाव का मर्मस्पर्शी भावपूर्ण अंकन है जो अपनी प्रभावान्विति से सजीवता उत्पन्न करती है।

रेखाचित्र की विशेषताएँ

डॉ० भगीरथ मिश्र ने रेखाचित्र की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है—१. वास्तविक वर्णन २. चरित्रगत विशेषताओं का उभार ३. भाव एवं संवेदना को जाग्रत करना ४. शैली-हास्यव्यंग्य पूर्ण, चुभते हुए विशेषण, नयी किन्तु तुली हुई शब्दावली, पात्रानुकूल भाषा, कवित्वपूर्ण शैली, ५. उद्देश्य (प्रेम एवं सहानुभूति पूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित करना, जीवन को वास्तविक रूपों और अनुभवों में रख लेना)।[3] डॉ० मिश्र ने तात्विक दृष्टि से रेखाचित्र के वैशिष्टय को आकलित किया है जिसमें अंशतः संशोधन अपेक्षित है। इस दृष्टि से रेखाचित्र की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

१. रेखाचित्र का विषय वस्तु, व्यक्ति वस्तु, दृश्य, घटना, समस्या आदि कुछ भी हो सकता है। उस विषय वस्तु का समग्र चित्रण प्रस्तुत नहीं किया जाता वल्कि कलाकार की तरह विशृंखल रेखाओं में से कुछ उभरी हुई रेखाओं को संवार कर स्वानुभूति के रंग में रंजित कर प्रस्तुत किया जाता है।

२. रेखाचित्र में विषय वस्तु का चित्रण संक्षिप्त एवं यथार्थ परक होना

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र—काव्य शास्त्र पृ० ९७।
२. डॉ० हरवंशलाल शर्मा—हिन्दी रेखाचित्र पृ० ९।
३. डॉ० भगीरथ मिश्र—काव्यशास्त्र पृ० ९१-९१ सप्तम संस्करण।

चाहिए। इसमें काल्पनिकता को स्थान प्राप्त नहीं है। वही रेखाचित्र श्रेष्ठ होता है जो यथार्थ से अधिक से अधिक जुड़ा हुआ हो।

३. रेखाचित्र में आलेख्य व्यक्ति का चारित्रिक उभार प्रस्तुत होता है। उसमें व्यक्ति का सुनियोजित चरित्र चित्रण नहीं होता बल्कि मनोवैज्ञानिक ढंग से चारित्रिक झाँकी प्रस्तुत की जाती है। अतः रेखाचित्रकार अपने प्रामाणिक अनुभवों के आधार पर व्यक्ति की वेशभूषा तथा आकृति का दक्षता के साथ चित्रण करता है।

४. रेखाचित्र में मनोभावों से जाग्रत करने की क्षमता होनी चाहिये। यह तभी संभव है जब लेखक की आत्मीयता या सान्निध्य व्यक्ति वस्तु या दृश्य के साथ हो।

५. रेखाचित्र की भाषा चित्रोपम होनी चाहिए। शब्द शक्तियों का प्रयोग उचित तथा अनुकूल होना चाहिए। कतिपय वाक्यांशों द्वारा संपूर्ण परिवेश को चित्रित करने की क्षमता होनी चाहिए। आवश्यकत्ता होने पर हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण शैली का भी प्रयोग होना चाहिए।

६. रेखाचित्र में उद्देश्य उपदेश की भाँति थोपा नहीं जाता अपितु रचना के भीतर समाप्ति रहता है। उद्देश्य सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़े होने चाहिए।

हिन्दी रेखाचित्र साहित्य का विकास

यद्यपि भारतेन्दु युग में 'रेखाचित्र' का बीजारोपण हो गया था किन्तु विधागत विभाजकता के कारण इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं था। वास्तविक रूप में रेखाचित्र द्विवेदी युग में अंकुरित होकर छायाकार युग में पुष्पित पल्लवित हुआ। द्विवेदी युग में पं० पद्म सिंह शर्मा ने रेखाचित्र लेखन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। रेखाचित्र की दृष्टि से पं० पद्म सिंह शर्मा का 'पद्म पराग' संग्रह उल्लेखनीय है। जिसमें संस्करणात्मक निवंधों एवं रेखाचित्रों का संकलन है। डॉ. हरिवंश लाल शर्मा ने पं० पद्म सिंह शर्मा को संस्करणात्मक निबंधों एवं रेखाचित्रों का जनक कहा है।[1]

१. हिन्दी रेखाचित्र—डॉ० हरिवंशलाल शर्मा पृ० ६९।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में रेखाचित्र एक विकसित विधा के रूप में सुधीजनों के समक्ष आया। सन् १९२८ में बाबू श्याम सुन्दर दास ने लाला भगवानदीन पर सन् १९२९ में आचार्य रामदेव ने 'विशाल भारत' में स्वामी श्रद्धानन्द पर और सन् १९३२ में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने श्रीधर पाठक पर रेखाचित्र लिखे। मार्च १९३९ में 'हंस' पत्रिका का रेखाचित्रांक प्रकाशित हुआ जिसमें २ पत्रकार, ३ साहित्यकार, १ अध्यापक, ६ कवि, १ कथाकार, २ लेखिकाओं पर कुल मिलाकर १५ रेखाचित्र प्रकाशित हुए। सन् १९४६ ई० में रेखाचित्र विधा के वरिष्ठ लेखक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादकत्व में 'मधुर' का विशेषांक प्रकाशित हुआ। इन दोनों विशेषांकों में मौलिक अन्तर यह था कि 'हंस' का क्षेत्र भारत तक सीमित था तो 'मधुकर' विश्व प्रसिद्ध रचनाओं तक विस्तृत। इन दोनों विशेषांकों के कारण हिन्दी में रेखाचित्र एक गद्य विधा के रूप में स्थापित हुआ।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्रीराम शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', गुलाबराय, सत्यवती मलिक, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पं० बेचन शर्मा उग्र, पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, शिवपूजन सहाय, सियाराम शरण गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामधारी सिंह 'दिनकर', डॉ० नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे आदि रेखाचित्रकारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा की अतीत के चलचित्र (१९४१ ई०), स्मृति की रेखाएँ (१९४३ ई०) तथा पथ के साथी (१९५६) और मेरा परिवार (१९७२) नामक रचनाओं का रेखाचित्र विधा में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पं० बनारसी दास चतुर्वेदी का 'रेखाचित्र' (१९५३), पं० श्रीराम शर्मा का 'बोलती प्रतिमा' (१९३७), 'प्राणों का सौदा' (१९३९), रामवृक्षबेनीपुरी का 'लाल तारा' (१९३८), 'माटी की मूरतें' (१९४६), और 'गेहूँ और गुलाब' (१९५०) रेखाचित्र संकलन प्रकाशित हुआ। इनमें रामवृक्ष बेनीपुरी

शैलीकार के रूप में अद्वितीय रेखाचित्रकार हैं। पं० वनारसीदास चतुर्वेदी ने वेनीपुरी जी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्रकार अंगीकार किया है।[1] श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का नाम रेखाचित्रकारों में विशेष स्थान रखता है। इनके संकलनों में 'जिन्दगी मुस्कराई' (१९५३ ई०) 'बाजे पायलिया घुंघरू', 'महके आँगन चहके द्वार' (१९६३), 'माटी हो गई सोना', 'दीप जले शंख वजे' आदि उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही कुछ फुटकर रेखाचित्र 'जाने अनजाने', 'कुछ शब्द-कुछ रेखाएँ', अमिल रेखाएँ,' 'हँसते निर्झर', 'दहकती भट्ठी' आदि अन्य संकलनों में संगृहीत है।

श्रीमती सत्यवती मलिक के रेखाचित्र संकलनों में 'अमिट रेखाएं' और 'अमर क्षण' मुख्य हैं। निराला का 'कुल्लीभाट', पदुमलाल पुन्नालाल का 'कुछ' प्रकाशचंद्र गुप्त का 'रेखाचित्र' (१९४०), 'पुरानी स्मृतियाँ' (१९४७), 'विशाख' (१९५७) देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रेखाएँ बोल उठीं', 'क्या गोरी क्या साँवरी', 'एक युग प्रतीक', डॉ० भगवत शरण उपाध्याय का 'वो दुनियाँ', 'ठूँठा आम' उपेन्द्रनाथ अश्क के 'ज्यादा अपनी कम पराई,' 'मण्टो— मेरा दुश्मन,' 'रेखाएँ और चित्र', रामविलास शर्मा का 'विराम चिह्न,' जगदीश चंद्र माथुर का 'दस तस्वीरें' प्रभाकर माचवे का विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित 'अज्ञेय: जितने कि वे मुझे ज्ञेय हुए,' मैथिलीशरण गुप्त पर 'कलम और कूँची के साथ,' आदि शीर्षक रेखाचित्र, डॉ० नगेन्द्र का 'चेतना के विम्ब' ओंकार शरद के 'लंका महराजिन', 'खा साहेब', 'देशकाल पात्र' आदि रेखाचित्र संकलनों का रेखाचित्र विधा की श्री वृद्धि में विशेष योगदान है इसके अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी अपनी मूल्यवान रचनाओं द्वारा हिन्दी के रेखाचित्र विधा को समृद्ध किया है। निश्चित ही इस विधा का भविष्य उज्ज्वल है।

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास चतुर्दश भाग—कैलाशचंद भाटिया पृ० ४५७।

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज हिन्दी गद्य की एक नवीनतम विधा है। रिपोर्ताज के लिए 'सूचनिका' और 'प्रसंग चित्र' शब्द भी प्रयुक्त होता है परंतु रिपोर्ताज शब्द अधिक प्रचलित है। रिपोर्ताज लेखन १९३६ के आसपास द्वितीय विश्व युद्ध की देन है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि पत्रकार कला में रिपोर्ताज का अविष्कार रूस में हुआ। रिपोर्ताज फ्रांसीसी शब्द है जो अंग्रेजी के रिपोर्ट का समानार्थी है। रिपोर्ट में किसी घटना का यथा तथ्य वर्णन किया जाता है जिसमें साहित्यिकता का अभाव होता है जब कि रिपोर्ताज में साहित्यिकता विद्यमान होती है। अतः यथा तथ्य चित्रण की मर्मस्पर्शी कलात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति रिपोर्ताज कहलाती है। रिपोर्ताज को कतिपय विद्वानों ने इस प्रकार परिभाषित किया है।

डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार—"किसी घटना या दृश्य का अत्यंत विवरणपूर्ण, सूक्ष्म रोचक वर्णन इसमें इस प्रकार किया जाता है कि वह हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाये और हम उससे प्रभावित हो उठे।"[1]

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त के अनुसार—"रिपोर्ताज तीव्र भावना में रंगी हुई साहित्यिक रिपोर्ट के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं। संघर्ष की खन्दकों में निर्मित यह कला रूप हैं।'

गुलाब राय जी के अनुसार —"रिपोर्ट की भाँति वह घटना या घटनाओं का वर्णन तो अवश्य होता है किन्तु उसमें लेखक के हृदय का निजी उत्साह रहता है जो वस्तुगत सत्य पर बिना किसी प्रकार का आवरण डाले उसको प्रभावमय बना देता है। इसमें लेखक छोटी-छोटी घटनाओं को देकर पाठक के मन पर एक सामूहिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। इसका सम्बन्ध वर्तमान से होता है।"[2]

---

१. काव्य शास्त्र—डॉ० भगीरथ मिश्र पृ० ७० सप्तम संस्करण।

२. काव्य के रूप—गुलाब राय, पृ० १४१

डॉ० ओम प्रकाश सिंहल के अनुसार—जिस रचना में वर्ण्य विषय का आँखों देखा तथा कानों-सुना ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जाय कि पाठक की हृतन्त्री के तार झंकृत हो उठें और वह उसे भूल न सके, उसे रिपोर्ताज कहते हैं। रिपोर्ट से वह इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें जहाँ कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव होता है। तथा तथ्यों का लेखा जोखा मात्र रहता है।[1]

हिन्दी साहित्य कोशाकार के अनुसार—"रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को ही रिपोर्ताज कहते हैं। वस्तुगत तथ्य को रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित करने में ही रिपोर्ताज की सफलता है।"[2]

विशेषताएँ—उपर्युक्त कतिपय विद्वानों द्वारा दिये गये रिपोर्ताज के लक्षण और वैशिष्ट्य के आधार पर रिपोर्ताज की निम्नलिखित विशेषताएँ इंगित की जा सकती है।

१. रिपोर्ताज में घटना या दृश्य की प्रधानता होती है। अतः इसमें परिस्थिति और वातावरण का निर्मिति प्रभावशाली होनी चाहिए।

२. रिपोर्ताज वर्तमान से सम्बद्ध होता है। अतः सामयिकता इसका गुण है।

३. रिपोर्ताज में तथ्यपरकता होती है।

४. रिपोर्ताज में कथात्मकता होती है।

५. शैलीगत दृष्टि से वस्तुगत वर्णन में कलात्मकता एवं साहित्यिकता का पुट होना चाहिए जिससे पाठक के हृतन्त्री के तार झंकृत हो उठे। साहित्यिक कलात्मकता वोझिल न हो इसका ध्यान रखना चाहिए।

हिन्दी का रिपोर्ताज साहित्य

द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर यूरोपीय साहित्य में इस गद्य विधा का विशेष विकास हुआ। हिन्दी में रिपोर्ताज १९४० ई० के आस पास लिखे

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं० डॉ० नगेन्द्र पृ० ७१७-१८

२. हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृ० ६५८

जाने लगे।[1] जब कि कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर का विचार है कि रिपोर्ताज हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से पनपा उस पर किसी प्रकार का भी ऋण नहीं है। हाँ, नामकरण अवश्य रूसी के माध्यम से हिन्दी ने लिया।[2] बालकृष्ण राव एवं श्रीराम शर्मा हिन्दी का पहला रिपोर्ताज लेखक रांगेय राघव को मानते हैं जिन्होंने १९४० के 'वंगाल के अकाल' पर लेखनी चलाई।[3] कतिपय लोग शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखित 'लक्ष्मीपुरा' (रूपाभ, दिसम्बर १९३८) को हिन्दी का पहला रिपोर्ताज मानते हैं तो कुछ लोग गुरुकुल कांगड़ी की रजत जयन्ती पर श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर द्वारा १९२६ ई० में लिखित रिपोर्ताज को।

शिवदान सिंह चौहान द्वारा 'हंस' के 'समाचार और विचार' तथा 'अपना देश' स्तम्भों में लिखित उनकी इस शैली की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं जिनमें 'मौत के खिलाफ जिन्दगी की लड़ाई' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'विशाल भारत' में वंगाल के दुर्भिक्ष तथा महामारी के संदर्भ में लिखित राघव का रिपोर्ताज निश्चित रूप से रिपोर्ताज साहित्य की अमूल्य निधि है जो आगे चलकर 'तूफानों के बीच' (१९४६) में संकलित प्रकाशित हुए।

प्रकाशचन्द्र गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा राम नारायण उपाध्याय के रिपोर्ताज स्वतन्त्र संग्रह के रूप में प्रकाशित नहीं हुए अपितु अन्य विषयक कृतियों में प्रकाशित हुए। प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'स्वराज भवन' 'अलमोड़े का बाजार' और 'वंगाल का अकाल' उपेन्द्रनाथ अश्क का 'पहाड़ों में प्रेममय संगीत' तथा राम नारायण उपाध्याय का 'गरीब और अमीर पुस्तकें संग्रह में संग्रहीत रिपोर्ताज विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

---

१. हिन्दी का गद्य साहित्य—रामचन्द्र तिवारी पृ० २०२।
२. हिन्दी की गद्य विधाएँ (सं० जगदीश दत्त शर्मा एवं श्याम किशोर शर्मा) पृ० ४९।
३. प्रकीर्णिका पृ० २४।

भदंत आनन्द कोसल्यायन लिखित 'देश की मिट्टी बुलाती है', शिवसागर मिश्र लिखित 'वे लड़ेंगे हजार साल', डॉ० धर्मवीर भारती कृत 'युद्ध यात्रा', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' लिखित 'क्षण बोले कण मुस्काये', शमशेर बहादुर सिंह कृत 'प्लाट का मोर्चा', तथा श्रीकांत वर्मा लिखित 'अपोलो का रथ' रिपोर्ताज विशेष रूप से उल्लेख्य है जो रिपोर्ताज लेखन को नया तेवर दिये है। हिन्दी का रिपोर्ताज साहित्य अधिकांश पत्र पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुआ है। हिन्दी के अन्य रिपोर्ताज लेखकों में डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, फर्नीश्वर नाथ रेणु, रामकुमार, विवेकी राय, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश्वर आदि मुख्य रूप से उल्लेखनीय है।

जीवनी

जीवनी का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'लाइफ' अथवा बायोग्राफी है। 'जीवनी' या 'जीवन-चरित्र' जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत अन्य व्यक्तियों का जीवन चरित्र लिखा जाता है। जीवनीकार इतिहास, समाज, अतीत या वर्तमान से अपनी रचना के प्रधान पुरुष का चयन करके उसके समग्र जीवन को देशकालगत परिस्थितियों के अनुकूल चित्रित करता है उसमें चरित नायक के संपूर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भाग की चर्चा होती है। जीवनियाँ बहुधा महान् पुरुषों की ही लिखी जाती हैं जिसकी अभिव्यक्ति जीवनीकार कुछ तो प्रत्यक्ष जीवन से तथा कुछ अपने मानस लोक की प्रतिक्रिया से करता है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार—'जीवन-चरित सारे जीवन में किये हुए किसी के कार्य का वर्णन होता है। उसमें चरित नायक के संपूर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भाग की चर्चा होनी चाहिए।'[1] डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स के अनुसार—"जीवनी में चरित नायक के संपूर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भाग की चर्चा होनी चाहिए और उसे अपने आदर्शरूप में एक विशिष्ट इतिहास भी होना चाहिए।"

जीवनी लिखने की दृष्टि ऐसी होनी चाहिए जो चरित नायक के जीवन की बिखरी हुई घटनाओं को एकसूत्रता प्रदान कर सके क्योंकि यह एक ऐसी

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-२, सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३३५।

साहित्यिक विधा है जिसमें न केवल तथ्य निरूपण होता है और न ही कोरी काल्पनिकता, वल्कि इसमें जीवनीकार अपनी भाषा-शैली तथा कलात्मकता के आधार पर ऐसा चरित्र वर्णन करता है कि वह उपन्यास की कोटि में आ जाता है। जीवनी के सम्बन्ध में डॉ० पं० श्रीराम शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि —"जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का शब्द-चित्र है और इसीलिए जीवनी लेखक की लेखनी तूलिका से अंकित चित्र यथार्थ होनी चाहिए और उसे निष्पक्ष रूप से न्यायाधीश की भांति जीवनी नायक के जीवन पर सम्मति देनी चाहिए। हाँ, लेखन कला, कौशल इसमें है कि नहीं जीवनी चित्र में रंग आवश्यकता से अधिक गहरा या फींका न हो और चरित्र-विश्लेपण का आधार जीवनी-नायक की घटनाओं अथवा दुर्घटनाओं सम्बन्धी सामग्री होना चाहिए, न कि अपनी मनोभावना मात्र। अन्ततः हम कह सकते हैं कि जीवनी लेखन में जीवनीकार के पास जीवन को देखने-परखने, अपनी संवेदना में उसे जीने और अपनी लेखनी से उसे पुनःजीवित करने की क्षमता होनी चाहिए जिससे जीवनी साहित्य सशक्त एवं उत्कृष्ण हो सके। और जीवनी उपन्यास की अपेक्षा अधिक रोचक तथा इतिहास से भी अधिक मूल्यवान हो सके।

जीवनी की विशेषताएँ

'जीवनी' गद्य साहित्य का वह रूप है जो उसे गद्य की अन्य विधाओं से अलग करती है जिसका कारण उसकी कतिपय विशेपताएँ ही हैं जो निम्नलिखित हैं——

(१) 'जीवनी' किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का कालक्रमानुसार धारावाहिक वर्णन है।

(२) 'जीवनी' में देशकाल और परिस्थितियों का भी प्रसंगानुसार वर्णन होता है।

(३) 'जीवनी' में चरित नायक के चरित्र की विशेपताओं, उसके शारीरिक तथा वौद्धिक गुणों के वर्णन के साथ-साथ उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी किया जाता है।

(४) 'जीवनी' में चरित नायक की वंश-परम्परा, सामाजिक परिवेश और कुल-परिवार का भी वर्णन किया जाता है।

(५) 'जीवनी' में लेखक स्वयं पृष्ठभूमि के रूप में रहता है वह अपने बारे में कहीं भी विस्तार से या विशेषरूप से कुछ नहीं लिखता।

हिन्दी का जीवनी साहित्य

जीवन चरित लिखने की परम्परा आधुनिक काल की ही देन है इसके पूर्व हिन्दी में जीवन-चरित लिखने की परम्परा का अभाव था। यद्यपि भक्ति-काल में नामादास कृत 'भक्त माल' और 'वार्ता साहित्य' को इस कोटि में गिना जाता है तथापि उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध है क्योंकि उसमें संतों के चरित्र का अस्वाभाविक एवं अलौकिक रूप ही चित्रित हुआ है। जीवनी साहित्य की सही दृष्टि हमें आधुनिक काल में ही परिलक्षित होती है।

हिन्दी में जीवनी लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दुकाल से माना जाता है स्वयं भारतेन्दु जी ने 'चरितावली', बादशाह दर्पण', 'पंच पवित्रात्मा' तथा 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' नामक पुस्तकें लिखीं। कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा १८९३ में मीरा बाई का जीवन चरित लिखा गया। इन्होंने ही छत्रपति शिवाजी का भी जीवन चरित लिखा। रमाशंकर शर्मा का 'नेपोलियन बोनापार्ट का जीवन चरित, राधा कृष्ण दास द्वारा रचित भारतेन्दु, नागरीदास, बिहारी और सूर की जीवनियाँ भी इसी काल की है ईसाई मिशनरियों द्वारा रचित कुछ जीवनियाँ तथा कुछ जीवनियों के अनुवाद आदि भी भारतेन्दु काल में ही लिखे गये। प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण इन जीवनियों में सरसता का अभाव सा है।

द्विवेदी युग में इस दिशा में कुछ संतोष जनक प्रगति हुई। इस युग में धार्मिक नेताओं तथा ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियाँ ही लिखी गईं क्योंकि यह युग सुधारवादी भावनाओं का युग था अतः इस युग में सत्यानन्द स्वामी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा व्रजनन्दन सहाय ने गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी लिखी। रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द, गुरुनानक, महात्मा ईसा, हजरत मुहम्मद तथा शंकराचार्य का भी जीवन-चरित इस युग में ही लिखा गया।

द्विवेदी युग के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन की तीव्रता के कारण अनेक स्वतंत्रता सेनानियों की भी जीवनियाँ लिखी गई जिनमें मन्मथनाथ

गुप्त का 'चन्द्रशेखर आजाद, सीताराम चतुर्वेदी का 'महामना मालवीय' छविनाथकृत 'नेताजी सुभाष' रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'जयप्रकाश नारायण' आदि कृतियों के साथ ही लाल बहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी पर भी जीवनियां लिखी गईं। हिन्दी की आधुनिक जीवनियों में ओंकार शरद की 'लोहिया' तथा डॉ० राही मासूम रजा की 'छोटे आदमी की बड़ी कहानी' नामक जीवनी उल्लेखनीय है।

जीवनी साहित्य में साहित्यकारों की जीवनियों का अभाव-सा है किन्तु जो भी साहित्यिकों की जीवनियाँ उपलब्ध हैं वे गौरवपूर्ण हैं। अमृतराय द्वारा प्रेमचन्द पर लिखी जीवनी 'कलम का सिपाही' तथा पं० राम विलास शर्मा कृत 'निराला की साहित्यसाधना' हिन्दी जीवनी साहित्य की उपलब्धि है। इसके साथ ही डॉ० शान्ति जोशी कृत पंत की जीवनी 'सुमित्रा नन्दन-पंत जीवन और साहित्य' तथा विष्णु प्रभाकर कृत शरद चन्द्र की जीवनी 'आवारा मसीहा' आदि का जीवनी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का जीवनी साहित्य काफी समुन्नत है उसमें दिन-प्रतिदिन सुधार होता ही जा रहा है जिसके कारण जीवनी साहित्य के विकास का मार्ग प्रशस्त है।

आत्मकथा

आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ है अपनी कहानी। इसमें किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं अपनी लेखनी से लिखी गई उसकी अपनी जीवन कहानी होती है। इसमें लेखक अपनी बात उत्तम पुरुष (मैं, मुझको, मेरा) में व्यक्त करता है। इसमें लेखक अपनी स्मृति के अधार पर अपने जीवन की विविध घटनाओं एवं अनुभवों का क्रमवद्ध वर्णन प्रस्तुत करता है। यदि लेखक अपने जीवन के किसी छोटे अंश या किसी व्यक्ति के संपर्क या घटना विशेष का ही वर्णन करता है तो उसे आत्मकथा नहीं कहेंगे, वह संस्मरण की कोटि में आयेगा। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार, 'आत्मकथा लेखक का अपने जीवन से संबद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का

सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्त्व दिखलाया जाना संभव है।'[1]

आत्मकथाकार के लिए आवश्यक है कि वह आत्मविश्लेषण के द्वारा जीवन के विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों का क्रमबद्ध ढंग से उद्घाटन करे। इसके विना आत्म कथा में तथ्य एवं कथ्यगत लालित्य का अभाव होगा और वह ऐतिहासिक दस्तावेज मात्र रह जायेगा। इस संदर्भ में डॉ० पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश' का कथन द्रष्ट्रव्य है—"जहाँ तक आत्मकथा लिखने का उद्देश्य है उसमें एक ओर आत्मनिरीक्षण या आत्मपरीक्षण होता है और दूसरी ओर अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करके निश्चय ही अपनी स्थिति का स्पष्ट वर्णन करना या अपने अनुभवों से दूसरों को लाभान्वित करना होता है। इसीलिए आत्मकथा को 'आत्मचरित' या 'आत्मकहानी' भी कहा जाता है।"[2]

आत्मकथा, आत्मचरित आत्मचरित्र को प्राय: पयार्यवाची शब्द माना जाता रहा है जो स्थूलत: ठीक है परन्तु सूक्ष्मत: आत्मकथा और आत्मचरित के मध्य विभाजक रेखा खींची जा सकती है। "एक सूक्ष्म अंतर कदाचित यह है कि आत्मचरित्र कहलाने वाली रचना किंचित विश्लेषणात्मक और विवेक प्रधान होती है और आत्मकथा कही जाने वाली कृति अपेक्षतया अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है।"[3]

आत्मकथा की विशेषताएँ—

१. आत्मकथा का नायक स्वयं लेखक होता है।
२. आत्मकथा में केवल आत्म विश्लेषण ही नहीं होता अपितु बाह्य जगत से संबंधित क्रियाओं प्रतिक्रियायों का भी विवेचन होता है।
३. आत्मकथा के लेखक को अपने जीवन से संबंधित घटनाओं और परिस्थियों का वर्णन पूरी ईमानदारी के साथ करना चाहिए। क्योंकि

---

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग १—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ८९।
२. हिन्दी वाङ्मय: बीसवी शती - सं० नगेन्द्र, पृ० ३७६।
३. हिन्दी साहित्य कोश भाग १ - सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ८९।

यही ईमानदारी और सच्चाई आत्मकथा के मूल प्राण हैं। अतः सत्यता की रक्षा करना लेखक का धर्म है।

४. आत्मकथा में काल्पनिक प्रसंगों के लिए कोई स्थान नहीं होता। क्योंकि आत्मकथा यथार्थ और प्रमाणिक कथ्यों पर आधारित होती है।

५. आत्मकथा की शैली में ऐसी प्रभावोत्पादकता होनी चाहिए जो पाठक के मस्तिष्क और अन्तर्मन पर पूरी तरह छा जाये। शैली में घटनाओं की सुसंगठित योजना, लाघवता, स्पष्टता, निर्भिकता और रोचकता होनी चाहिए।

हिन्दी आत्मकथा साहित्य का विकास

हिन्दी के आत्मकथा साहित्य का विकास अन्य गद्य रूपों की भाँति आधुनिक काल में ही दिखाई देता है। वैसे जैन कवि बनारसीदास की पद्यात्मक आत्मकथा 'अर्द्धकथा' को हिन्दी का प्रथम आत्मकथा होने का गौरव प्राप्त है। भारतेन्दु बाबू ने कुछ आप बीती—कुछ जग बीती के नाम से यौवन काल की घटनाओं को विषय बनाकर आत्मकथा लिखी जिसके फलस्वरूप इस विधा की ओर रचनाकारों की रुचि बढ़ी। इसी युग में अम्बिकादत्त व्यास की 'निजवृत्तांत' तथा स्वामी श्रद्धानन्द की 'कल्याण पथ का पथिक' 'नामक आत्मकथात्मक कृतियाँ प्रकाश में आईं। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से इन कृतियों का महत्त्व भले ही न हो परंतु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इनका विशेष महत्त्व है।

श्यामसुन्दर दास जी की 'मेरी आत्म कहानी' आत्मकथा की कसौटी पर खरी उतरने वाली कृति है। इसे ही हिन्दी की वास्तविक एवं सशक्त आत्मकथा कह सकते हैं। इसी अवधि में बाबू राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्मकथा' रची गई। इसके पश्चात् राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा', वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह', बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ', सियाराम शरण गुप्त की 'झूठ-सच' तथा 'बाल्यस्मृति' नामक आत्मकथाएँ प्रकाश में आईं जिसमें आत्म प्रकाशन का सहज रूप दिखाई देता है।

वर्तमान काल में आत्मकथा साहित्य का प्रौढ़तम रूप दिखाई देता है। जिनमें शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन', पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की

'अपनी कहानी' तथा डॉ० हरिवंश राय बच्चन की चार भागों में प्रकाशित 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर', 'दशद्वार से सोपान तक' विशेष उल्लेखनीय हैं। आत्मकथा साहित्य में बच्चन की आत्मकथात्मक कृतियाँ मील के पत्थर साबित हुए हैं। पंजाबी कवयित्री अमृता प्रीतम की हिन्दी में प्रकाशित आत्मकथा 'रसीद टिकट' अत्यधिक चर्चित रही। डॉ० रामदरस मिश्र द्वारा दो खण्डों में लिखित 'जहाँ मैं खड़ा हूँ', 'रोशनी की पगडण्डियाँ' नामक आत्मकथा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संस्मरण

संस्मरण हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की एक नवीनतम विधा है। यह गद्य की एक आत्मनिष्ठ विधा है क्योंकि उसमें संस्मरणकार अपने व्यक्तिगत जीवन तथा अपने संपर्क में आये हुए अन्य व्यक्तियों के जीवन के किसी पहलू पर स्मृति के आधार पर प्रकाश डालता है। 'संस्मरण' शब्द का अर्थ ही है सम्यक् रूप से स्मरण करना अर्थात् जो वस्तु स्मृति शेष है वह भाषिक संरचना के माध्यम से जीवंत रूप में प्रकट हो जाए।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार, "संस्मरण में लेखक जो स्वयं देखता हैं, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन में उसकी अनुभूति एवं संवेदनाएँ भी रहती है।"[1]

अत: संस्मरण में लेखक किसी ऐसी घटना, स्थल या व्यक्ति से संबंधित स्वानुभूति की स्मृति को यथार्थ के धरातल पर कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजनात्मक शैली में अपने व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की छाप डालकर साकारता प्रदान करता है। अनेक इसी वैशिष्ट्य के कारण संस्मरण व्यक्ति व्यंजक निबंध व कहानी के समीप है।

'संस्मरण' के लिए अंग्रेजी में दो शब्दों 'मेमाइर' और रिमिनसेसेज-का प्रयोग मिलता है। किन्तु दोनों में थोड़ा अंतर है। मेमाइर अपेक्षाकृत

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग १, सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ८०३।

अधिक वस्तुपरक संस्मरण है जबकि रिमिनिसेसेंज में लेखक अपने व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत जीवन के अनुभूत सत्यों को कहीं अधिक स्पष्टतया व्यक्त करता है। हिन्दी में इन दोनों के लिए एक शब्द 'संस्मरण' व्यवहृत होता है जो अधिक आत्मपरकता का द्योतक है।

संस्मरण की विशेषताएँ

१. संस्मरण लेखक की निजी अनुभूतियों पर आधारित होता है।

२. संस्मरण में स्मरणकर्त्ता और स्मरणीय दोनों की समान स्थिति होती है।

३. संस्मरण में लेखक वर्ण्यवस्तु के साथ-साथ अपने विषय में या अपनी मनःस्थिति या अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव को भी प्रस्तुत करता है।

४. संस्मरण यथार्थ पर आधारित होता है।

५. संस्मरण में आत्मतत्त्व, संवेदना और अनुभूति का सुन्दर समावेश होता है।

६. संस्मरण में शैलीगत प्रभावोत्पादक गुण—अभिव्यंजनात्मकता, रोचकता, लाघवता स्पष्टता—आवश्यक है। जिससे पाठक के साथ रागात्मक संबंध स्थापित हो सके।

हिन्दी के संस्मरण साहित्य का विकास

हिन्दी में इस गद्य रूप का प्रचलन आधुनिक युग में पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप हुआ। भारतेन्दु युग में इस साहित्य रूप का प्रचलन नहीं था। संस्मरण साहित्य का प्रादुर्भाव द्विवेदी युग में हुआ। 'सरस्वती' इस युग की महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी जिसके माध्यम से ही संस्मरण साहित्य प्रकाश में आया। इसके विभिन्न अंकों में समय-समय पर अनेक रोचक संस्मरण प्रकाशित होते रहे। इस विधा में द्विवेदी युग के ही लेखक पं० पद्म सिंह शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कई साहित्यकारों के विषय में उनके संस्मरण 'पद्म पराग' में संगृहीत है। तत्पश्चात पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने हिन्दी संस्मरण साहित्य की श्री वृद्धि की। अपने संपादकत्व में 'विशाल भारत' और 'मधुकर' पत्रिका में अनेक लेखकों के स्मरण प्रकाशित किये।

चतुर्वेदी जी के संस्मरण संकलन 'संस्मरण' (१९५२ ई०), 'हमारे आराध्य' (१९५२ ई०) संस्मरण साहित्य की अमूल्य निधि है। उन्होंने जिन विशिष्ट व्यक्तियों पर संस्मरण लिखे उनमें पं० श्रीधर पाठक, मेरी तीर्थ यात्रा (शंकर गोस्वामी और द्विवेदी जी को वर्ण्य विषय बनाकर), द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, रामानन्द चट्टोपाध्या, दीनबंधु एण्ड्रयूज, प्रेमचन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रुद्रदत्त शर्मा, मीर साहब, किशोरीलाल गोस्वामी पं० कृष्ण बलदेव वर्मा, पं० तोताराम सनाढ्य, स्वामी भवानीदयाल सन्यासी, पीर मुहम्मद मूनिस, नारायण दास खरे, देवी दयाल गुप्त, शील जी, साधका जी, आजाद की माता जी मुख्य हैं। इनमें द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु एण्ड्रयूज, गाणेश शंकर विद्यार्थी, आजाद की माता जी आदि संस्मरण अपनी प्राभावोत्पादकता के कारण वे साहित्य जगत में समादृत हुए। संस्मरण साहित्य में पं० बनारसी दासचतुर्वेदी का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। चतुर्वेदी जी के पश्चात् संस्मरण लेखकों में श्रीराम शर्मा का नाम महत्त्वपूर्ण है। उनके संस्मरण संकलन हैं—'जंगल के बीच' तथा 'वे कैसे जीते हैं'।

बाबू शिवपूजन सहाय कृत 'मेरा जीवन,' श्रीरामनाथ सुमन कृत 'मैंने स्मृति के दीप जलाये' संस्मरण संकलन भाषा शैली की लालित्यमयी प्रस्तुति के कारण हिन्दी संस्मरण साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। बाबू शिवपूजन सहाय ने जिन विशिष्ट व्यक्तियों पर संस्मरण लिखे उनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, शिवनन्दन सहाय, बदरीनाथ भट्ट, माधव शुक्ल, श्याम-सुन्दरदास, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', मुन्शी नव जादिकलाल, पारसनाथ सिंह आदि मुख्य है। रामनाथ सुमन ने 'मैंने स्मृति के दीप जलाये' में जिन प्रमुख साहित्यकारों पर संस्मरण लिखे उनमें पुरुषोत्तमदास टण्डन, वृन्दावन-लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, विनोद शंकर व्यास आदि प्रमुख हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा रेखाचित्र के साथ-साथ संस्मरण लेखन में भी अपनी विशिष्टता के कारण प्रतिष्ठित हैं। 'पथ के साथी' नाम से उनका संस्मरण संकलन प्रकाशित है। इस संकलन में सात व्यक्तियों—कवीन्द्र रवीन्द्र जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त (दद्दा), सुमित्रा नन्दनपंत, सुभद्रा कुमारि चौहान, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और

ियाराम शरण गुप्त—पर उनके संस्मरण है। उनकी 'अतीत के चलचित्र', मृति की रेखाएँ', 'क्षणदा' और 'मेरा जीवन' कृतियाँ संस्मरण की कोटि में हीं आते बल्कि वे रेखाचित्र की श्रेणी में आते हैं। वैसे 'पथ के साथी' के स्मरणों में भी रेखाचित्र के कुछ तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वे मूलतः स्मरण ही हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य संस्मरण लेखकों में बाबू गुलाबराय, पद्मलाल नालाल बख्शी, सियाराम शरण गुप्त, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, विष्णु प्रभाकर, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नगेन्द्र आदि विशेष ल्लेखनीय हैं।

त्रावृत्त

यात्रा का शाब्दिक अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया। ष्य जाति का इतिहास उसकी यायावरी प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ है क्योंकि उसकी आवश्यकता भी थी। प्रकृति एवं मानव जीवन की विविधताओं प्रति मनुष्य के मन में आकर्षण बढ़ा, यह उसकी जिज्ञासा एवं कौतूहल प्रतिफल है। यही जिज्ञासा एवं कौतूहल मनुष्य में यायावरी प्रवृत्ति का न करती है। यायावरी प्रवृत्ति ही मनुष्य में एक नई गति एवं ऊष्मा का ार करती है।

यात्रा ही कूप मण्डूकता की सीमा तोड़कर मनुष्य के ज्ञान-क्षितिज का स्तार कर भूमंडल को प्रेम एवं एकता के सूत्र में बाँधती है। यात्रा मनुष्य साहस, संघर्षशीलता, प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बना देने की ता, धैर्य संतुलन आदि गुणों का निर्माण करते हैं। संसार के बड़े-बड़े देशी यायावरों फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग, इब्नबतूता, अलबरूनी, र्कोपोलो, बर्नियर तथा भारत के बड़े-बड़े धर्मगुरुओं की भारत के उत्तर दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम की यात्राओं की उपयोगिता निर्विवाद । अतः यात्रा का मानव जीवन में सर्वाधिक महत्व है।

यात्रावृत्त देखे गये स्थानों का केवल विवरण ही नहीं है बल्कि यात्रा के ान दृश्यों व स्थलों के साथ भोगी गई जिन्दगी की क्रमबद्ध ... वर्णन

प्रस्तुति है। "इनमें निबंध, कथा, संस्मरण आदि कई गद्य रूपों का एक साथ मिल सकता है।"[1]

यात्रा वृत्तांत वर्णनात्मक शैली के अतिरिक्त रिपोर्ताज डायरी और शैली में भी लिखे जाते हैं। डॉ० नामवर सिंह ने यात्रा वृत्तांत लिखने परम्पराओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार दो परम्पराएँ हैं और मार्गी। देसी यात्रा वृत्तांत की शुरूआत हिन्दी लेखन में भारते होती हुई नागार्जुन तक आती है। राहुल जैसे प्रसिद्ध यात्रा संस्मरण इसी परम्परा की एक विशाल कड़ी हैं। इन यात्रा वृत्तांतों में सबसे ब है कि इनमें तथ्यात्मकता और जिन्दादिली जैसी दो विशेषताओं पर बल दिया गया है। इसलिए ये यात्रा संस्मरण बहुत प्रामाणिक और जीवन में समाये हुए है। मार्गी परम्परा की शुरूआत अज्ञेय ने की। बाद में इसी परम्परा में मोहन राकेश सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और वर्मा जैसे लेखकों ने यात्रा संस्मरण लिखे।[2]

यात्रावृत्त की विशेषताएँ

१. यात्रावृत्त तथ्यात्मक होता है।[3]

२. यात्रावृत्त क्रमबद्ध होता है।

३. यात्रावृत्त सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, सहजता, कल्पना प्रवणता से होने चाहिए।

४. यात्रावृत्त में जिन्दादिली होनी चाहिए।[4]

हिन्दी के यात्रावृत्त का विकास

आधुनिक काल में यात्रावृत्त लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु जी ने भारतेन्दु ने 'सरयूपार की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'मेहदावल की 'हरिद्वार की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा', आदि अनेक यात्रा वृत्तान्त किन्तु उसे समीक्षकों ने परम्परागत ढंग से निबंध के अन्तर्गत रखा। इनमें यात्रावृत्त के सभी गुण दृष्टिगोचर होते हैं। ये निबंध यात्रा वृत्तान्

१. हिन्दी का गद्य साहित्य—डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० १९६।
२. दिनमान ९ सितम्बर ८१, पृ० ७६। ३. वही। ४. वही।

को स्वतंत्र विधा के रूप में लिखने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भारतेन्दु मंडल लेखक बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र ने भी क्रमशः 'गया यात्रा' और 'विलायत यात्रा' नामक यात्रावृत्त लिखे।

हिन्दी के यात्रा लेखकों में सत्यदेव परिव्राजक, और राहुल सांकृत्यायन ख्याति मिली। सत्यदेव परिव्राजक रचित अमरीका दिग्दर्शन, मेरी कैलास ात्रा, अमरीका-भ्रमण, मेरी जर्मन-यात्रा, यात्री मित्र, यूरोप की सुखद ृतियाँ, ज्ञान के उद्यान में, नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण, अमरीका ास की मेरी अद्भुत कहानी तथा मेरी पाँचव जर्मनी यात्रा तथा राहुल ांकृत्यायन कृत तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी यूरोप यात्रा, मेरी तिब्बत यात्रा, ी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में, राहुल यात्रावली, यात्रा के पन्ने, रूस में चीस मास, एशिया के दुर्गम भूखण्डों में; यात्रा वृत्तान्त विशेष उल्लेखनीय । परिव्राजक जी और सांकृत्यायन जी ने यात्रावृत्त लेखन में महत्त्वपूर्ण गदान किये। इनकी कृतियाँ यात्रा साहित्य की अमूल्य निधि हैं। पश्चात् यात्रा वृत्त लेखन में अज्ञेय का नाम आदर के साथ लिया जाता । इनकी कृति 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक बूँद सहसा उछली' शेष रूप से सराही गयी।

भारतेन्दु युग से लेकर आज तक यात्रावृत्त लेखन की एक समृद्ध रम्परा मिलती है। यात्रावृत्त लेखकों में प्रमुख हैं—श्रीधर पाठक (देहरादून-मला यात्रा), लोचन प्रसाद पाण्डेय (हमारी यात्रा), जवाहर लाल नेहरू रूस की सैर तथा आँखों देखा रूस), सेठ गोविन्द दास (हमारा प्रधान उप-वेश; सुदूर दक्षिण पूर्व, पृथ्वी परिक्रमा), कर्नल सज्जन सिंह (लद्दाख यात्रा ी डायरी), रामवृक्ष बेनीपुरी (पैरों में पंख बाँधकर, उड़ते चलो-उड़ते चलो), शपाल (लोहे की दीवार के दोनों ओर तथा राह बीती), रामधारी सिंह नकर (देश विदेश और मेरी यात्राएँ), भगवत शरण उपाध्याय (वह नया, कलकत्ता से पीकिंग), विष्णु प्रभाकर (हँसने निर्झर, दहकती भट्टी), ॉ० नगेन्द्र (तन्त्रालोक से यन्त्रालोक तक, अप्रवासी की यात्राएँ), मोहन-ाकेश (आखिरी चट्टान तक), निर्मल वर्मा (चीड़ों पर चाँदनी), डॉ० रघुवंश

(हरी घाटी, मृग मरीचिका के देश में) तथा नंद दुलारे वाजपेयी (केरल शारदीय परिक्रमा)।[1]

संकलित गद्य विधाओं में अन्तर

रेखाचित्र और संस्मरण—

रेखाचित्र और संस्मरण अत्यंत निकटवर्तिनी विधाएँ हैं। दो सामान्य अन्तर है। रेखाचित्र व्यक्ति, वस्तु, घटना स्थिति आदि पर जाते हैं जब कि संस्मरण मात्र व्यक्ति पर लिखे जाते हैं। रेखाचित्र सा से सामान्य व्यक्ति का भी हो सकता है जब कि संस्मरण प्रायः प्रसिद्ध व के विषय में लिखे जाते हैं। रेखाचित्र में चित्रण की प्रधानता हो जब कि संस्मरण में विवरण की प्रधानता होती है। संस्मरण में रेखा की अपेक्षा देशकाल का वर्णन अधिक रहता है। संस्मरण लेखक सम्पूर्ण स्थिति का भावात्मक निरुपण करता है जब कि रेखाचित्रकार मात्र उभरी हुई रेखाओं को संवारता है। रेखाचित्र में विषय के साथ लेखक हार्दिक लग्गन नहीं होता जब कि संस्मरण में यह लगाव इतना बढ़ है कि लेखक स्वयं भी उसका एक अंग बन जाता है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज --

रेखाचित्र और रिपोर्ताज इन दोनों में घटना, स्थान और व्यक्ति चित्रण किया जाता है। इन दोनों में अन्तर यह है कि रिपोर्ताज को क के रंग में उतना नहीं रंगा जा सकता जितना कि रेखाचित्र को। दो अन्तर के सम्बन्ध में डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का कथन द्रष्टव्य ऐसी (रिपोर्ताज) सक्रिय विधा में शब्द उसी प्रकार त्वरा पकड़ते हैं स्वचालित वन्दूक से निकलने वाली गोली। यह स्वयंचलित प्रक्रिया तार्ज लेखन के समय उपयुक्त शब्दों को स्वतः चेतना में अवतरित कर है क्योंकि शब्द-शिल्प के लिए वरण और चयन का समय रेखाचित्र-सं आदि में मिल सकता है, रिपोर्ताज में नहीं। अतः यहाँ सरस्वती जैसे

१. द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य का इतिहास सं० डॉ० नगेन्द्र पृ० ४८९, ६०४, आ।

आघात पा जाती है और लेखक के मुख या लेखनी से वाह्य प्रत्यक्ष घटना विद्युत की तरह झटके दे-देकर उसका श्रेष्ठ रचनात्मक तत्त्व खींचकर वाहर निकाल लेती है। इस प्रकार रिपोर्ताज में ध्यान, धारणा, कल्पना और भाव की 'गति' समन्वित होती है जब कि रेखाचित्र में इन सबकी संगति स्थिर गति होती है।'[1]

रेखाचित्र और जीवनी—

जीवनी के निर्माण में बुद्धि और भावना का योग अधिक रहता है, कल्पना का कम किन्तु रेखाचित्र में इन तीनों तत्वों का मिश्रण हो जाता है। रेखाचित्र में जीवनी के समान घटनाओं का चित्रण तिथि क्रम से नहीं होता है। रेखाचित्र में घटनाओं का पूर्ण आकलन भी नहीं होता। जीवनी-कार जीवनी की भाषा को प्रवाहमयी बनाने का यत्न करता है जब कि रेखाचित्रकार भाषा को चित्रमयी बनाता है।

रेखाचित्र और आत्मकथा—

आत्मकथा की रचना तटस्थ भाव से की जाती है क्योंकि यह एक प्रकार से लेखक का इतिहास है। इसमें वर्णन की प्रधानता होती है चित्रण की नहीं। रेखाचित्र में तटस्थता या वर्णन की प्रधानता नहीं होती, उसमें लेखक की स्वानुभूति और आस्था का पुट मिला रहता है।

जीवनी और आत्मकथा—

जीवनीकार किसी व्यक्तिविशेष के जीवन चरित का वर्णन करता है जब कि आत्मकथा में लेखक स्वयं अपने जीवन चरित का वर्णन करता है। आत्मकथा का लेखक मुख्यतः अपने जीवन में घटित महत्त्वपूर्ण घटनाओं का पुनर्गठन करता है जो कि अपने आप में निश्चय ही एक दुष्कर कार्य होता है इसके विपरीत जीवनी का कार्य अपेक्षतया अधिक सरल होता है क्योंकि दूसरे के वाह्य एवं अन्तर को व्यक्त करना आत्म विवेचन से अधिक सरल होता है।

---

१. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—हिन्दी में रेखाचित्र, आलोचना ३६ पृ० ८१।

जीवनी और संस्मरण—

जीवनी और संस्मरण दोनों का संबंध किसी विशिष्ट अथवा प्रसिद्ध व्यक्ति से होता है। जीवनी में व्यक्तिविशेष के जीवन से संबंधित सभी ज्ञात एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होता है जबकि संस्मरण में केवल उन घटनाओं अथवा परिस्थितियों का वर्णन होता है जिससे लेखक अत्यधिक प्रभावित होता है। संस्मरण में संस्मरणकर्त्ता एवं स्मरणीय दोनों की स्थिति समान होती है, जीवनी में नहीं। अर्थात् संस्मरण में लेखक वर्ण्यवस्तु के साथ-साथ अपने विषय में या अपनी मनः स्थिति या अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव को भी प्रस्तुत करता है जब कि जीवनी में लेखक मात्र वर्ण्य व्यक्ति को ही वर्णित करता है। महापुरुषों की जीवनियाँ श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर उपलब्ध विवरणों के आधार पर भी लेखक लिख डालता है किन्तु संस्मरण के लिए यह नितांत आवश्यक होता है कि लेखक उस व्यक्ति या वस्तु का साक्षात्कार किया हो जिसका संस्मरण वह लिख रहा है।

संस्मरण और यात्रावृत्त—

संस्मरण स्थायी स्मृतियों पर आधारित होते हैं और यात्रावृत्त सामयिक स्मृतियों पर संस्मरण स्मरणकर्त्ता पर स्मरणीय से हुए साक्षात्कार के स्थायी का प्रभाव का परिणाम होता है। जब कि यात्रा वृत्त स्थल, दृश्य, घटना आदि की सामान्य स्मृतियों पर आधारित होता है। संस्मरण यथार्थ पर आधारित होता जब कि यात्रावृत्त में यथार्थ के साथ-साथ काल्पनिकता का भी समावेश होता है।

यात्रावृत्त और रिपोर्ताज—

रिपोर्ताज घटना स्थल तक ही सीमित रहता है जब कि घटना स्थल यात्रावृत्त के अंग मात्र होते हैं।

यात्रावृत्त और रिपोर्ताज में मूल अंतर यह है कि रिपोर्ताज किसी एक स्थल या घटना तक ही सीमित रहता है जब कि यात्रावृत्त में अनेक दृश्य, स्थल एवं घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होता है। अतः रिपोर्ताज घटनास्थल तक ही सीमित रहता है जब कि घटना स्थल यात्रावृत्त के अंग मात्र होते हैं।

१

रेखाचित्र

रामा

महादेवी वर्मा

रामा हमारे यहाँ कब आया, यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहिन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबूजी की विविधता भरी मेज से परिचित थे, जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे, जिस पर सोकर हम कच्छमत्स्यावतार जैसे लगते थे और माँ के शंख-घड़ियाल से घिरे ठाकुर जी को पहचानते थे, जिनका भोग अपने मुँह में अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आधी आँखें मीचकर बगुले के मनोयोग से घंटी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीरवाले रामा के बड़े नखों से लम्बी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साँप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसी उँगलियों वाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से लेकर सोने के समय तक हमारा उससे जो विग्रह चलता रहता था, उसकी स्थायी संधि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएँ खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े-बूढ़े के समान सँभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गए थे, क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानों पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है, तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती

हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट-से स्पष्टतर होने लगती हैं; पर जि समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं, उ समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जाने वाली, पानी की काई के समा विस्मृति उन्हें फिर-फिर ढक लेती है।

रामा के संकीर्ण माथे पर की खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेहतरल आँखें कभी-कभी स्मृति-पट पर अंकित हो जाती हैं और कभी धुँधली होते होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झूँझलाए शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए-से-नथुने, मुक्त हँसी से भरक फूले हुए-से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाले सघन और सफेद दन्तपंक्ति के सम्वन्ध में भी यही सत्य है।

रामा के वालों को तो आध इंच से अधिक वढ़ने का अधिकार ही नहीं था इसी से उसकी लम्वी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिए घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ का ठौर थी, क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरुप था; परन्तु तव उससे भव साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है : पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम वाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। वालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं, वहाँ वह व्यक्ति विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष, घृणा आदि के धूम से जीवन ढका रहता है, वहाँ वह वाह्य सामञ्जस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसी से रामा हमें वहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है, उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था, तभी तो केवल एक मिर्जई और घुटनों तक ऊँची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकांश की प्रदर्शनी करता रहता था

उसके पास सजने के उपयुक्त सामग्री का अभाव नहीं था, क्योंकि कोठरी में अस्तर लगा लम्बा कुरता, बँधा हुआ साफा, बुन्देलखंडी जूते और गँठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते जान पड़ते थे। उनकी अखंड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाँहों में लाठी को अटका कर खिलौनों का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूँटी से उतारकर उसे गुड़ियों का हिंडोला बनाने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखंडी जूतों को हौज़ में डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जावे; पर रामा अपने अंधेरे दुर्ग में चर्रमर्र स्वर में डाटते हुए द्वार को इतनी ऊँची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके, वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी, पापड़ आदि के अक्षय-कोष को धूप दिखा रही थीं, तब न जाने कब दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया, तब वह 'ए मताई, ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो' कहता हुआ उनके पैरों पर लेट गया। दूध मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं, तब समस्या और जटिल हो गई, क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं, जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखंड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भाग कर माँगता-खाता इन्दौर तक जा पहुँचा था, जहाँ न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा, तो आश्चर्य क्या!

उस दिन सन्ध्या समय जब बाबूजी लौटे, तब लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने में रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे और दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी। और हाथ-मुँह धोकर नये सेवाव्रत में दीक्षित रामा हक्का-बक्का सा अपने कर्त्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अपरूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गये। हँसते-हँसते पूछा—यह किस लोक का जीव ले आए हैं धर्मराज जी ! माँ के कारण हमारा घर अच्छा-खासा 'जू' बना रहता था। बाबूजी जब लौटते, तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दलान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खँजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहन कर आँगन में चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी वृद्धा ब्राह्मणी भंडारघर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की; पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षण भर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठी—मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षण भर विश्राम नहीं करता, वह केवल अपने लिए नौकर रखे, यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर ऐसा विचित्र नौकर ! बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया। विनोद से कहा—'ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें, ऐसे खास साँचे में ढले सेवक ही तो धर्मराजजी की सेवा में रह सकते हैं'।

उन्हें अज्ञातकुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ; पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता, क्योंकि वे किसी की पात्रता-अपात्रता का मापदण्ड अपनी सहज-समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया, उसमें अक्षय सौन्दर्य न होगा, ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया, पर उसका कर्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोई घर का कार्य माँ किसी को सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के सम्बन्ध

में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सम्बन्ध में उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उन्हें विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है, तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए एकान्त आवश्यक है।

हम सब एक-दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध और समझदार होने के समय में विशेष अन्तर नहीं रहा। निरन्तर यज्ञ-ध्वंस में लगे दानवों के समान हम माँ के सभी महान् अनुष्ठानों में बाधा डालने की ताक में मँडराते रहते थे, इसी से रामा को, हम विद्रोहियों को वश में रखने का गुरु-कर्तव्य सौंप कर कुछ निश्चिन्त हो सकीं।

रामा सवेरे ही पूजा-घर साफ कर वहाँ के बर्तनों को नीबू से चमका देता—तब वह हमें उठाने जाता। उस बड़े पलंग पर सवेरे तक हमारे सिर-पैर की दिशा और स्थितियों में न जाने कितने उलट-फेर हो चुकते थे। किसी की गर्दन को किसी का पाँव नापता रहता था, किसी के हाथ पर किसी का सर्वांग तुलता होता था और किसी की साँस रोकने के लिए किसी की पीठ की दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्मवेश में, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तब वह किसी को गोद के रथ, किसी को कंधे के घोड़े पर तथा किसी को पैदल ही, मुख-प्रक्षालन-जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुँह-हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था, क्योंकि रामा को 'दूध बताशा राजा खाय' का महामन्त्र तो लगातार जपना ही पड़ता था, साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जब मुझे राजा कहता, तब नन्हें बाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुँह खोल कर बोल उठता—'लामा इन्हें कौं लाजा कहते हो?' र कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दम्भ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उँगलियों में मेरा सिर अटका रहता

था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओं वाली हथेली सुदर्शनचक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसी से मैं साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा रामा बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को सन्तुष्ट करने का अमोघ मन्त्र जानता था। मेरे कान में हौले से कहता—'तुमई बड़डे राजा हौ जू, नन्हें नइयाँ' और कदाचित् यही नन्हें के कान में भी दोहराया जाता, क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्हीं उँगली डालकर दाँतों के स्थान में ओठ माजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसी से मैं उसे गर्व से देखती, मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूँदकर कौव्वे द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँखें मूँदते वैसे ही किसी के मुँह में अंगूर, किसी के दाँतों में बिस्कुट और किसी के ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था, क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली, मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौव्वे की काली कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों से मैं काल्पनिक कौव्वे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़ कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे-सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाये रखना, खाते समय भोजन की मात्रा और अपेक्षा की सीमा

में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़ा, उड़नखटोला आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते हमें स्वप्न-लोक के द्वार तक पहुँचा आना रामा का ही कर्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त माँ से, हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कंधे पर बैठाया और दूसरे को गोद लिया, तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा—'उँगरिया जिन छोड़ियो राजा भइया।' सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी, तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर मैंने यथासम्भव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया—'क्या तुमने रामा को देखा है।' वह खो गया है। बूढ़े हलवाई से धुँधली आँखों में वात्सल्य भरकर पूछा—'कैसा है तुम्हारा रामा ?' मैंने ओठ दबाकर सन्तोष के साथ कहा—'बहुत अच्छा है।' इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असम्भव था, यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी, परन्तु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमन्त्रण नहीं था, इसी से दूकान के एक कोने में बिछे ठाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठ कर मैं बूढ़े से मिले मिठाई रूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहाँ मुझे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा, तब मैंने विजय—गर्व से फूलकर कहा—'तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा !' रामा के कुम्हलाए मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आँसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमा कर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा,

मानो मेरा कोई अंग मेले में छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ों के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है, पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने ही सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्य भरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और पराई वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! वहाँ से कौन-सी पराई चीज लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश विस्मय से लवालब भर दें, इसी चिन्ता में हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था—हाँ, राह एक बालिश्त चौड़ी मुंडेर मात्र थी, जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आँगन में लगे फूल, पराई वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं, यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए उस आकाशमार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती, पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के जीने की अन्तिम सीढ़ी पर एक कुत्ती नन्हें-नन्हें बच्चे लिए बैठी थी; जिन्हें देखते ही, हमें वस्तु के सम्बन्ध में अपना निश्चय बदलना पड़ा; पर ज्योंही हमने एक पिल्ला उठाया, त्योंही वह निरीह माता अपने इच्छाभरे अधिकार की घोषणा से धरती-आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाववाले गृहस्वामी निकल आये और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड़ पड़ी, तब हम बड़े असमञ्जस में पड़ गए। ऐसी स्थिति में क्या किया जाता है, यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया, कहा—'हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।' गृहस्वामी हँस पड़े। पूछा—'लेते क्यों नहीं? उत्तर और भी गम्भीर मिला—'अब कुत्ती का पिल्ला चुरायेंगे।' पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटे तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया

था। अपने उपदेशरूपी अमृत-वृक्ष में यह विषफल लगते देख, वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा, क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़ कर अधर में उठाते हुए पूछा—'कहो जू, कहो जू, किते गये रहे ?' पिनपिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था, इस से दाँतों से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा—'रामा ने मेरे कान खींच कर टेढ़े भी कर दिये हैं और वड़े भी—अब डाक्टर को बुलवाकर इन्हें ठीक करवा दो और रामा को अँधेरी कोठरी में वन्द कर दो।' वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था, इसलिए उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच वहुत लज्जित था; पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था, उतना ही उसके राजा भइया को कान का दर्द याद आया था। फिर भी सन्ध्या समय रामा को भिन्न मुद्रा से वाहर वैठा देखकर मैंने 'गीत सुनाओ' कह कर सन्धि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था.'एसो सिय रघुवीर भरोसो' और उसे वह जिस प्रकार गाता था, उससे पेड़ पर के चिड़ियाँ-कौवे तक उड़ सकते थे; परन्तु हम लोग उस अपूर्व गायक के अद्भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम लोग केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन वालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसी से रामा का उसमें विशेष महत्त्व है।

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आँगन में गानेवालियाँ, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के वूढ़े से लेकर वालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया, वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। वड़ी-वूढ़ियाँ संकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता, तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ यह तो पता नहीं; पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नहीं पधारीं, तब चिन्ता होने लगी, क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता, वैसे ही कन्या के बिना कन्यादान का महा सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ, तब बाबा ने इसे अप कुल देवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लि अपना फ़ारसी ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूँढ़ लाए, जिस विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का भी साह न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचप से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध म विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मैं जीवन की सर लता से परिचित हो सकती थी या नहीं, इसमें सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चु थी और मैं 'आ' पर उँगली रखकर आदमी के स्थान में आम, आलमा आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भा बहनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके स कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूँढ़ लेने की क्षमता प्राप्त थी औ मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पड़ता था। नन्हे वा उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढ़ा 'बन्दर नाच' दिखाने आया मु रूठी नहीं कि मैंने सुनाया 'रूठी लड़की कौन मनावे', गरज पड़े तब दौ आवे।' वे बेचारे मेरे शास्त्रज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे, क्योंकि मेरे कि कार्य के लिए दृष्टान्त ढूँढ़ लेने के साधन उनके पास नहीं था। पर अक्षर ज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा कहानी और कहावत आदि का जैसा वृहत् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों में न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता, त वह न्यायाधीश होकर और अपना निर्णय सबके कान में सुनाकर तुरन्त सं करा देता।

मेरे पण्डितजी से रामा का कोई विरोध न था; पर जब खिलौनों बीच ही में मौलवी साहब, संगीत-शिक्षक और ड्राइंग-मास्टर का आविर्भा

हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े से झाब में छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था, जिसमें बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी था। उन्हें निकालकर कुछ ौर भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता आ, माँ के सामने उठा लाया, तब समस्या बहुत जटिल हो गई। जैसे ही सने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। न्त में रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइंग-मास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही, क्योंकि वे खेलने से रोकते हीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक ोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी—जब किसी और का बनाना ोता, तब इसी ढाँचे में कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती था न रामा। जब उन्होंने पहले न संगीत सीखने के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न किया, तब मैंने बहुत विश्वास के ाथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ—जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध ाया, तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भाव-भंगिमा से सुना दिया ि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होंने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने वड़ा और योग्य गायक नहीं माना, तब मेरा अप्रसन्न हो जाना ाभाविक था।

रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान कते थे। माँ जब दस-पन्द्रह दिन के लिए नानी को देखने जातीं, तब रामा ो घर और बाबूजी की देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा के म जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं होते, अतः वे हमें भी छोड़ जातीं

बीमारी के सम्बन्ध में रामा से अधिक सेवापरायण और सावधान व्यक्ति लना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली, तब वह शेष ो लेकर ऊपर के खण्ड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं ाया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक वार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से वच सकी। हम इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ प्रति कुछ महीनों की अवस्था वाला छोटा भाई इतना वीमार था कि वाबू जी बच्चे तीनों की खोज-खवर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रमा अपने स्नेह में हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जव हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठकर रामा की कथाओं को वड़ी तन्मयता से सुनते थे, तभी एक दिन हल्के से ज्वर के मेरे कान के पास गिल्टी निकल आई। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी थी जिसके फूले पैर में से भगवान ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया', मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा—'मालूम होता है कि मेरे का कहानी वाला मेंढक निकलेगा।' वह वेचारा तो सन्न हो गया। फिर ई गर्म टुकड़े को गीले कपड़े से लपेट कर उसने उसे कितना सेंका, यह कठिन है। सेंकते-सेंकते वह न जाने क्या वड़वड़ाता रहता था जिसमें देवी, कभी हनुमान, कभी और भगवान् का नाम सुनाई दे जाता था दिन और दो रात वह मेरे विछौने के पास से हटा ही नहीं—तीसरे दिन गिल्टी बैठ गई, पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी नि चीरी गई और वह वहुत वीमार रहा; पर उसे संतोष था कि मैं सव से बच गई। जब दुर्वल रामा के बिछौने के पास माँ हमें ले जा सकीं, हमें देख कर उसके सूखे होठ मानो हँसी से भर आए, धँसी आँखें, उल तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित हो उठी। माँ ने 'तुमने इसे बचा लिया था रामा! जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवन पछतावा रह जाता।' उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखूनवाले हाथ से माँ छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जव अच्छा हो गया, तब माँ कहने लगीं—'रामा, अव तुम घर वसा लो जिससे वाल-बच्चों का सुख सको।' 'वाई की बातें! मोय नासमिटे अपनन खाँ का करने हैं, मोरे हरे बने रहें—जेई अपने रामा की नैया पार लगा देहें' ही रामा का रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य कर इतनी बातें सुनाता

हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नहीं हो गए थे, उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी पहचान गए थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते, तो वह उन्हें कभी नासमिटा, मुँहझौंसा आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी, जूता आदि निकाल कर और गुलाबी साफ़ा बाँधकर रामा आंगन में आ खड़ा हुआ, तब हम सब बहुत अचंभीत हो गए; क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया—क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?' रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया—'हाँ राजा भइया, एसी देहों नासमिटन ' पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की माँ के कठोर हाँथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनन्त और दूसरे के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सवेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती में सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और ,राजा भइया, राजा भइया' पुकारने लगा। हम सब गिरते पड़ते दौड़ पड़े, पर बरामदे में सहमकर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछौटा लगाये और हाथ में चूड़े और पाँव में पैंजम पहने, जो घूँघटवाली स्त्री पड़ी थी, उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी, तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूँघट में से दो तीक्ष्ण आँखें उसके कार्य का मूक विरोध करने लगी। नन्हें जब रामा के कन्धे पर आसीन होने के लिए जिद करने लगा, तब घूँघट में छिपें सिर में एक निषध-सूचक-कम्पन जान पड़ा, और जब मैंने झुक कर उस नवीन मुख को देखना चाहा, तब वह मूर्ति घूमकर खड़ी हो गई। भला ऐसे आगन्तुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे! जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी में महाभारत के अंकुर जमते गये और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की सम्भावना बढ़ती गई। हमारे खिलौने के नगर बसाने के लिए रामा

विश्वकर्मा भी था और भय-दानव भी; पर अब वह अपने गुरुका के लिए अवकाश नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघटवाली पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और राम ही नहीं, गुड्डे-गुड़ियों का दम भी घुटने लगता था। इसी से एक दिन ह युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान में बैठना चाहिए; अतः मैं मेज़ चढ़कर धरती तक न पहुँचने वाले पैर हिलाती हुई विराजी, मंत्री मह कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापतिजी स्टूल पर जमे। तब राजा ने वि की मुद्रा से कहा—'रामा' इसे क्यों लाया है?' मन्त्रीजी ने गम्भीर भा सिर हिलाते हुए दोहराया—'रामा, इसे क्यों लाया है?' और सेना महोदय न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आँखें तरेरते हुए बो 'सच है, इछै कौं लाया है?'

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव ह एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है, उसे न्याय की मर्यादा के स दण्ड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा ग

रामा की बहू जब रोटी बनाती, तब नन्हें बाबू चुपके-से उसके चौ भीतर बिस्कुट रख आता। जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धो नीचे गिरा देता। इस प्रकार न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे; पर उ ओर से न क्षमा-याचना हुई और न सन्धि का प्रस्ताव आया। केवल अपने विरोध में और अधिक दृढ़ हो गई और हमारे अपकारों का प्रति बेचारे रामा से लेने लगी। उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य गुण्ठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छा उतरती ही न थी इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उस समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस के चरणों पर कैसे रख दे, और रख दे तो स्वयं जिये कैसे! फिर एक रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पाई, क्योंकि वह हम अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिरप्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे गया, जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर माँ को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था—रामा अपनी पत्नी को हमारे पुराने खिलौने के समान फेंक दे, यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा, इसलिए रामा को कर्त्तव्य-ज्ञान सम्बन्धी विषद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी, जो उस विद्यार्थी में मिलती है, जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका; बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है। माँ ने रुपये भेजे, आने के लिए पत्र लिखा; पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रख कर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हें बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था; पर उड़नेवाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी; पर हरी-लाल झंडी दिखानेवाले के बिना उसका चलना-ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था; पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचानेवाला छोटा भैया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास में दिनोंदिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौने के बीच में प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाँधकर लाठी लिए हुए लौटेगा, तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भइया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना-जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार का सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है, पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक, निस्तन्द्र, पर स्नेहतरल।

३ जुलाई; १९२०

अदम्य जीवन

राँगेय राघव

हम पगडंडियों से बढ़ते जा रहे थे। सूर्य आकाश में चढ़ने लगा था। कहं कहीं कोई किसान किसी पेड़ की छाया में बैठा दीख पड़ता था। सबं नीरवता छा रही थी। आकाश में बादल तैर रहे थे, जिन्हें देखकर खेतों एक सोंधी-सी-उसांस उमंग उठती थी। दूर हरियाली की लहर तेज चल हवा की तरंगों पर गूँज-सी उठती थी। हरी-भरी पृथ्वी पर कभी-कं बादलों के छा जाने से कहीं धूप और कहीं छाया, बरबस हृदय को अपनं ओर आकर्षित कर लेती थी। किन्तु मेरे साथी को जैसे इन सब बातों कोई दिलचस्पी नहीं थी। बायां हाथ उठाकर वह कह रहा था—'वहीं शिद्धिरगंज, देख रहे हो न वह ताड़ का पेड़ ?'

दूर—लगभग मील-भर की दूरी पर—कालनेमि की तरह खड़ा वह लम्बा ताड़ का पेड़। जैसे-जैसे हम उस पेड़ की तरफ बढ़ रहे आकाश के बादल लहरों की तरह उस पर केन्द्राकार आ-आकर फैल जा थे। वर्षों से ताड़ का पेड़ वह इसी तरह खड़ा है और वर्षों से उस हिलते पत्तों ने बादलों की मर्मर सुनी है; किन्तु आज उसकी छाया मनुष्य विक्षुब्ध है।

मेरा साथी चुपचाप बढ़ा चला आ रहा था। एकाएक वह ठिठककर खड़ा हो गया। मैं उसके पीछे था। मैंने उसका कन्धा पकड़कर कहा—'भट्टाचार्य जी, क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं; गाँव आ गया।'

'गाँव ! पर यहाँ तो कोई बस्ती शुरू ही नहीं हुई।'

साथी की आँखों में निराश मुस्कराहट काँप उठी—'नहीं क्यों कहते हैं आप ? वह देखिए, वह···!' और उसने अपना हाथ सामने की ओर उठा दिया। मिट्टी का एक छोटा-सा ढूह घास में से अपना अनगढ़ सिर निकाले चुपचाप पड़ा था। मैं समझ नहीं सका कि क्या यही गाँव है ? मैंने कहा—'यह तो मिट्टी का एक ढूह-मात्र है।'

'इस गाँव की यही तारीफ है। आदमी मिलने से पहले यहाँ कब्रें शुरू हो जाती हैं !'

मैंने देखा, वह सचमुच कब्र थी। कच्ची मिट्टी, सिर पर कोई साया नहीं, चारों तरफ कोई घेरा नहीं। हम लोग बढ़ चले। प्रतीक्षा की-सी नीरवता में प्रायः हर पाँच-दस कदम पर एक-न-एक कब्र थी! मेरा हृदय काँप उठा।

सामने एक टूटा घर था—भग्न, विध्वस्त; मानो तूफान में उसका वैभव नष्ट हो गया था और उसके सामने केले के पेड़ों की शीतल और मनोरम छाया में चौदह कब्रें आँखें मूँदें पड़ी थीं। एक लड़का, जो वहीं बैठा एक आम की गुठली का सब-कुछ खा जाने में लगा था, अपने-आप चिल्ला उठा—'बाबू' एक-एक में दो-दो, तीन-तीन हैं। एक-एक में दो-दो, तीन-तीन।'

और वह फिर गुठली को मुँह मारने लगा। भट्टाचार्य जी पेड़ों की घनी छाया में एक पेड़ से सटकर खड़े विश्राम कर रहे थे। वे कहने लगे—'बाहर से तुम्हारी तरह ही बहुत-से-लोग आते हैं। हम चाहते हैं कि तुम यहाँ की एक-एक कब्र से बात करो और हिन्दुस्तान के कोने-कोने में जाकर

कहो कि जिस ढ़ाके की मलमल एक दिन शहंशाह पहनते थे, आज वहाँ जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं। बोलो, सुना सकोगे संसार को यह ?'

छोटी-छोटी पगडंडियों से होता हुआ यह स्वर कब्रों से टकराकर गूँज उठा और मानों कब्रों से आवाजें आने लगीं। चौदह कब्रें—आँखों के सामने एक बारगी उनमें सोए कंकाल तड़प उठे और नाच उठे यातना से व्याकुल, भूख से तड़प-तड़पकर, मरते हुए प्राणियों के चित्र।

राह में एक वृद्ध अपनी चटाई पर बैठा करघा चला रहा था। हम लोग उसी के पास जाकर रुक गए। वृद्ध ने हमारी ओर दृष्टि उठाई। भट्टाचार्य जी ने कहा—'दादा, आगरे से आए हैं यह, यहाँ का हाल देखने।'

'जियो बेटा, जियो!' वृद्ध ने गदगद स्वर से कहा—'यह आगरा कहाँ है ?'

''हिन्दुस्तान में ?

'हिन्दुस्तान से आए हो ? आओ, बैठो बेटा, आओ।' उसने चटाई की ओर इशारा किया। हम लोग बैठ गए। वृद्ध कहने लगा—'जो देखने लायक था, वह तो खत्म हो गया। मगर तुम आए हो, तो देखो; आगे जाने क्या हो ? वह क्षण-भर चिन्तित-सा दिखाई दिया। फिर भी एकाएक स्वर बदलकर उसने कहा—'तुम हमारे मेहमान हो, भैया! आराम से बैठो जरा। हम भूखे हैं; मगर तुमने जो इतना कष्ट किया है, किसलिए? हमें अपना समझकर ही न ? फिर तुम समझते हो, हमें इसका ज्ञान नहीं है ?'

मैं चुप बैठा रहा। भट्टाचार्य जी कहने लगे—'दादा, कष्ट-वष्ट की बात छोड़ो; इन्हें इस गाँव के कुछ हालचाल बताओ।'

वृद्ध एक क्षण चुप रहा। फिर बोला—'हालचाल ? वह देखो···!' और उसने एक कब्र की ओर इशारा किया और कहता गया—'शिद्धिरगंज के हालचाल सुनना चाहते हो ? एक-दो-तीन, गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक गिनते चले जाओ। कसम है अगर तुम किसी को हाय-हाय करते

पाओ। नहीं, आज कुछ नहीं है। था एक दिन, जब गाँव में रात-दिन रोने-कराहने के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं देता था; मगर अब तो वह सब-कुछ नहीं।'

वास्तव में हमें कोई भी रोता नहीं दिखा। सब मानो अपने-अपने काम में लगे थे। मैंने, देखा, डॉक्टर चुपचाप घरों की ओर देख रहा है। बाँस के सुन्दर-सुन्दर झोंपड़ें! सदियों से बंगाल—हम लोगों– पर बार-बार बाहरी हमले होते रहे; मगर आक्रमणकारी कभी भी यहाँ की शस्य-श्यामला पवित्र भूमि को नहीं रौंद सके। यहाँ मनुष्य को इतना समय मिल चुका था कि वह बैठकर आराम से इतने सुन्दर और स्वच्छ घर बना सकता। और आज वही घर निर्जनता की अर्गला लगाए मूक खड़े थे! अकाल ने उन पर अपनी जो बीभत्स छाया डाली थी, उसका धुंधलका अभी तक भी मानो कोनों में छिपा बैठा था।

मैं देख रहा था, जिनके शरीर में केवल हड्डियाँ ही शेष थीं आज भी उनमें जीवित रहने का साहस था। अकाल आया, बीमारी आई और फिर दूसरे अकाल की गहरी आँधी भी क्षितिज पर सिर उठाने लगी हैं; किन्तु अविचलित हैं यह! किसलिए? इसलिए न कि यह जनता किसी से भी दब नहीं सकती। एक दिन विजेताओं ने इन्हे कुचला था, आज भी मनुष्य का स्वार्थ और भीषण व्यापार इन्हें निचोड़ रहा है; किन्तु यह तो अभी तक अदम्य, अविजेय हैं!

बूढ़ा फिर कहने लगा। अबके उसका स्वर दृढ़ था—'इस गाँव में आज घरों पर किसीकी दृष्टि ठहरेगी, भैया? इधर देखो, वे जो छाया में सो रही हैं चुपचाप, ये मिट्टी की कच्ची कब्रें, गिनकर देख लो; अगर पाँच सौ से कम दिखाई पड़े! और एक-एक में एक ही आदमी दफनाया गया हो, यह भी कोई जरूरी बात नहीं है। यह है हम मुसलमानों की बात। और अगर तुम सुनना चाहते हो कि हिन्दू क्यों नहीं मरे, तो जाकर शीतलक्खा की धारा से पूछो कि क्यों तू शिद्धिरगंज के सैकड़ों किसानों को बहा ले गई, जिनकी हड्डियों तक का आज पता नहीं?

और वह सहसा मुस्करा उठा। मैंने देखा और समझने की चेष्टा की। मृत्यु ने उसे विक्षुब्ध कर दिया था। उसने कहा—'इस गाँव में करीब-करीब हर घर में मौत हो चुकी है। हजारों व्यक्ति मर चुके हैं; मगर सब तो नहीं मर सकते थे, और शायद सब नहीं मरेंगे, मगर कौन जाने, आगे क्या होगा ?'

इस समय कुछ और लोग भी वहाँ इकट्ठे हो गए थे। रहमत, जो अपने ताने को एक दफा ठोकर उठ आया था, आकर वहीं बैठ गया था। चर्चा चल पड़ी। रहमत कहने लगा – 'हाँ, काफी लोग मर गए हैं।'

'तुम्हारे घर में कितने आदमी थे ?'

'पच्चीस थे, जिनमें बीस मर गए। अब पाँच बाकी हैं।' और उसने अब्दुल के हाथ से हुक्का लेकर धुआँ उगलना शुरू कर दिया। बोला—'यह मिल जाती है, भैया बस !' उसने तम्बाकू की ओर इशारा किया और मुस्करा उठा। पहले वृद्ध की वह क्षुब्ध आकृति अब कुछ दीन-सी हो गई थी—मानो पहले जो व्यक्तिगत दुःख सजीव होकर चारों ओर हाहाकार कर उठा था, अब सामूहिक रूप में केवल साधारण-सा होकर चक्कर काटने लगा है। कुछ देर बाद रहमत ने एक लम्बी सांस छोड़ी और फिर गम्भीर भाव से कहा—'आने दो, जो-कुछ आएगा, उसे झेलेंगे।'

पगडंडी पर मरियल भुखमरे कुत्ते भूँक उठे, मानो रहमत की बात को समझकर उन्होंने उसका समर्थन किया हो। रहमत ने फिर कहा—'उन दिनों तीस-चालीस आदमी रोज मरते थे। अकाल तो खत्म हो गया; मगर बीमारियों ने जो पकड़ा, तो उनसे अभी तक गला नहीं छूटा।'

डॉक्टर ने पूछा—'क्या-क्या बीमारियाँ हैं यहाँ ?'

रहमत बिना सोचे ही रटी हुई सी बात बतला गया—'मलेरिया, वसन्त (चेचक) और चर्म-रोग।'

मैंने चारों ओर दृष्टि उठाकर देखा। लोगों के गालों की हड्डियाँ उभर आई थीं, आँखों में सूजी-सी ललाई छा रही थी, किसी-किसी के गले में सूजन थी। उन्हें लक्ष्य कर डॉक्टर ने मुझसे कहा—'करीब-करीब सभी या तो मलेरिया के शिकार हो चुके हैं या अब भी मलेरिया-ग्रस्त हैं।'

एक चंचल लड़का कहने लगा—'आपको अकाल की बात कुछ नहीं मालूम। यहाँ चावल किसी भी दाम पर नहीं मिलता था। तीन-साढ़े-तीन सौ आदमी तो इस गाँव को छोड़ गए। भुखमरे नहीं, तो···।' और उसकी झंकारती हँसी एकबारगी ठिठुरती-सी फैल गई। उसकी बगल में एक लड़की खड़ी थी, कोई नौ-दस बरस की। यह बीच में ही बोल उठी—भूल गया न कि अभी भी कई भुखमरे हैं, जो यहाँ लंगरखाने में खा रहे हैं।'

सहसा रहमत ने कहा—'अब्दुर्रहमान, आओ, इधर बैठो।'

अब्दुर्रहमान आया ही था कि एक आदमी कह उठा—'इसके घर में सोलह आदमी थे, जिनमें से यह अकेला बचा है।' अब्दुर्रहमान ने निराश नयनों से हमारी ओर देखकर कहा—'क्या बताऊँ बाबू, अफसोस सिर्फ यह है कि अब घर भी नहीं रहा। रहमत के यहाँ पड़ा रहकर इन्हें दुःख देता हूँ।'

रहमत हँस पड़ा। वह बोला—'क्या बात कहते हो, अब्दुर्रहमान ? तुम तो एक आए हो; मगर और जो उन्नीस की जगह बाकी है···।' और सब हँस पड़े। इतने में सामने से घुँघट काढ़े एक स्त्री निकली। हठात् पूछ बैठा—'रहमत क्या तुम्हारे गाँव में स्त्रियों को अपनी इज्जत बेचने पर भी उतारू होना पड़ा था ?'

रहमत के मुँह पर एक काली छाया फैल उठी। उसने पल-भर कुछ नहीं कहा। फिर गम्भीर स्वर में कुछ सोचकर बोला—'बाबू, बात तो बुरी है; मगर है सच। कुछ थीं ऐसी; मगर बुरा कहकर भी कितनी बुरी थीं वें, मैं नहीं जानता। कुछ कहते हैं कि जैसे इतने मरे, वे भी मर जातीं, तो हर्ज क्या था ? पर मैं सोचता हूँ, मर जाना क्या सहज है ? कोई क्या, अपने-आप मर जाना चाहता है ? खैर जाने दीजिए, इस बात को जाने ही दीजिए।'

अब्दुर्रहमान हर बार कह उठता था—,क्या करेंगे हम ? क्या बताइए न ?' उसके स्वर में अथाह निराशा और विवशता गूँज उठती थी। 'चावल का भाव अब भी १८ या १९ रुपये मन है। कहाँ से खरीदें हम ? गाँव में अधिकांश अब भी एक वक्त ही खाते हैं। और चावल खरीदने वाले भी सब ही तो चावल नहीं खाते, कई तो शकरकन्द के सहारे ही जी रहे हैं।'

'इतनी आमदनी नहीं, फिर बताओ', रहमत कहने लगा, 'कोई कैसे खरीदे ? अकाल खत्म हुआ ही कब, जो दूसरा शुरू होगा ? हमने कच्ची कब्रों में कई लाशों को बिना कफन में गाड़ दिया। आपको शायद मालूम न हो, हम मुसलमानों के यहाँ लाश को कफन में बाँधकर गाड़ने का कायदा है। मगर कायदा क्या करे, जब जिन्दों के लिए भी कपड़ा नहीं है, तो मरों की क्या कीमत है बाबू ?

उसका यह प्रश्न उसका अपना नहीं था। उसने अनजाने नहीं, जान-बूझकर ही उँगली उठाई थी उधर, जिधर मनुष्य को नंगा रखकर मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बन्द कर रखा था, जहाँ वस्तु मनुष्य के लिए न होकर पैसे के लिए थी। कितना बड़ा व्यंग्य और विद्रूप था यह कि आज कपड़ा बनाने वाले स्वयं नंगे थे !

हम लोग काफी देर तक बैठ चुके थे। एक लड़का कह उठा, 'चलिए बाबू, गाँव देखिए।' और हम लोग उठे। वहाँ एकत्र हुए लोगों में से कुछ ने हमें प्रणाम किया, कुछ ने आशीर्वाद दिया और हम लोग चल दिए।

कहीं-कहीं कब्रें टूट गई थीं। सामने के दो घर बिल्कुल टूट गए थे, उनके केवल चबूतरे बाकी थे। सामने एक गाय घास चर रही थी। पेड़ों की छाया में अनेक कब्रें सोयी पड़ी थीं लड़के ने कहा, 'यह है आदू मियां का घर। मर गया बेचारा ! उसके घर में उन्नीस आदमी थे, अब कोई भी नहीं बचा है।' वायु सनसनाती हुई बह गयी। आदू मियां यहाँ बैठकर हँसता था, आज उसका कोई पता नहीं। लड़के को घर का एक-एक-प्राणी याद था—अभी कल ही की तो बात थी। मगर निर्विकार खड़ा था। मानवीय भावनाएँ कितनी कठोर हो गई थीं ! सहसा आगे चलकर वह एक कब पर खड़ा होकर कहने लगा, बाबू यह मेरे बाप की कब्र है। बस मैं इतनी कब्रों में से इसे पहचानता हूँ। वह मुझे बहुत प्यार करता था। सचमुच वह मेरे ही लिए मर गया'। लड़का कुछ ठिठुर गया। मैंने देखा, डॉक्टर चौंक उठा। वह मुझसे बोला, 'यह मुसलमान होकर कब्र पर खड़ा है ? हमारे यहाँ तो ऐसे नहीं होता।'

भट्टाचार्यजी मुस्करा उठे। उन्होंने लड़के से वही प्रश्न दुहरा दिया। लड़का क्षण-भर चुप रहा। फिर हँस पड़ा—'यहाँ तो सब ऐसा ही करते हैं, बाबू ! कहीं पैर रखने की भी तो जगह नहीं हैं। कहा तक कोई कब्रों को बचाता हुआ, उनका चक्कर देकर चले ? इतनी ताकत है कितनों में ?'

हम लोग आगे बढ़े। भट्टाचार्यजी एक आदमी से कुछ बातें करने लगे वह आदमी कह उठा, 'गाँव-कमेटी के, यूनियन-बोर्ड के मेम्बर सब चोर हैं, चोर ! कोई हमारी पहवाह करता है ? रिश्तेदारों को कारड देते हैं, अपनों को देते हैं; हमारी क्या पूछ···?' दूसरा आदमी चलते-चलते रुककर कह उठा, 'हममें एका नहीं है, वर्ना क्या मजाल कि वह अपनी मनमानी करें।'

तब तो बंगाल अभी जीवित है ! आज भी वह अपना रास्ता खोज निकालना जानता और चाहता है। भूख से व्याकुल होकर भी यह भारत का संस्कृति-जनक सिर झुकाने को तैयार नहीं है। आज भी वह इन सब आँधी-तूफानों को झेलकर फिर से विराट रूप निकलना चाहता है। सचमुच कोई इनका कुछ नहीं कर सकता। यदि जनता में चेतना है, तो इन्हें भूखों मारने वाले नर-पिशाच नाज-चोरों का अन्त दूर नहीं।

एकाएक लड़का एक झोंपड़ें के पास पहुँचकर रुक गया। हमने देखा, भीतर कुछ जुलाहे साड़ियाँ बुन रहे थे। लड़के ने कहा, 'ढाके की साड़ियाँ प्रसिद्ध हैं न, बाबू ! अब यही दो-चार घर रह गए हैं, और कुछ दिन बाद शायद···।' वह कहते-कहते चुप हो गया। जुलाहे काम छोड़कर हमारी ओर देख रहे थे। सामने ही एक औरत बैठी थी। वह विधवा थी। उसके घर के दस आदमी मर चुके थे—और सामने केवल तीन अनगढ़ कब्रें थी।

अधिकांश घरों की टीनें उखड़ गई थीं। और न जाने कितनों ने भूख से लड़ने के लिए अपनी टीने बेच दी थीं। भट्टाचार्य जी ने उँगली से दिखाते हुए कहा, 'वह सामने एक भद्रलोक का घर था। उसे भी टीन बेच देनी पड़ी, क्योंकि···।' सहसा वे रुक गए। बात पलटकर उन्होंने कहा, वे जो टीनें दिखाई दे रही हैं उखड़ी-उखड़ी, इसकी वजह यह नहीं कि उसके

मालिक उन्हें बेचना नहीं चाहते थे; मगर इसलिए कि उनमें इतनी ताक़ ही नहीं रही थी कि उठाकर इन्हें बाजार तक ले भी जाते और यही कार है कि···।'

मैंने देखा, घर के चबूतरे के बीचोंबीच एक कब्र थी। यह भी ए मनुष्य था, जो अपने घर का वक्षस्थल फाड़कर सो रहा था। फोड़ों तरह वे कब्रे जगह-जगह सूजी हुई-सी दिखाई दे रही थीं।

धूप तेज हो चली थी। हम हाट में पहुँच गए थे।' मछलियों की वातावरण को भेद रही थी। एक बूढ़ा व्याकुल-सा भागा जा रहा था भट्टाचार्यजी ने बताया, उसे उस समय तीव्र ज्वर था, जिसके कारण दिमा ठीक नहीं था।' हाट के एक कोने में स्थानीय डॉक्टर की एक डिस्पेन्स थी। छोटी-सी, गमगीन-सी। डॉक्टर के दिल में यह मुफ्त दवाखाने खो जाने की बात जमती नहीं थी। आखिर वह फिर क्या खाएगा? हमा डाक्टर ने उससे बातचीत की। उसके पास न कुनैन थी, न सिन्कोना, बो गाँव में हर घर में मलेरिया का रोगी था, बच्चे की तिल्ली और जिगर ब हुए थे।

दवाखाने के एक बेंच पर बैठा एक आदमी कह रहा था—'हर ए चीज चोर-बाजार में है, हर एक चीज पर मुनाफाखोरी हो रही है; को करे तो क्या करे?'

एक औरत, जो पास में खड़ी थी, कहने लगी, तुम डॉक्टर हो? पह क्यों नहीं आए? जाने कितनी कितनी जानें बच जातीं! यहाँ एक सरका दवाखाना है जिसमें कोई खास दवाई नहीं, मरीजों की कोई खास तवज्ज नहीं। कहाँ, ढाकेश्वरी झिल नं० २ में तुम्हारा दवाखाना है? अब वह आएँगे कल से; चार-पाँच मिल तो हैं ही···।'

उस समय उस औरत की बात की अनसुनी करके खैराती अस्पताल क एसिस्टेंट डॉक्टर मुझसे कह रहा था—'हमने ७५ फी-सदी आदमियों की हालत सुधार दी है···।' भट्टाचार्य जी, मुस्करा रहे थे। एक ओर हमा शासक बोल रहे थे दूसरी ओर वही बात जनता कह रही थी। सामने अने

जर्जर रोगी खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे—बुझी हुई आँखें उभरी हुईं पसलियाँ और वही भयानक चर्म-रोग !

यहाँ से हम लंगरखानों की ओर चल दिए । लंगरखाने और जगह बन्द हो गए हैं, किन्तु यहाँ अभी तक खुले हैं । खुले हुए मैदान में, पेड़ों की छाया में, तीन भट्ठियाँ खुदी हैं । एक बड़ों का लंगरखाना है, जहाँ खिचड़ी बँटती है । करीब सौ आदमी आज भी उसी पर पलते हैं । मैली-कुचैली औरतों के जमघट में कुछ बैठी चूल्हा फूँक रही थीं । एक औरत ने बताया, कि बच्चों के दो लंगरखाने हैं —एक हिन्दू, एक मुसलमान । दोनों में सौ-सौ बच्चे खाते हैं । साढ़े सात सेर खिचड़ी बँटती है और कुछ मछली, बस इतना ही । किसी तरह लोग जी-मर रहे हैं भट्टाचार्यजी ने बताया कि फ्रेण्ड्स एम्बूलेन्स यूनिट इन्हें चला रहा है ।

मैं और भट्टाचार्य आगे चल पड़े । फिर हम दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गए । भट्टाचार्यजी कहने लगे, 'तुमने देखा, साढ़े सात सेर ? सौ में कितना पड़ा ?'

सामने भट्ठी में से धुँआ निकलकर ऊपर घुमड़ रहा था । आज सारा बंगाल महानाश की आग पर लटका भुन रहा है और चारों ओर से राक्षस मानों उसे चबा जाना चाहते हैं । इतने में डॉक्टर आ गया । उसके साथ एक औरत थी, जो रो रही थी मुझे बड़ा विस्मय हुआ । यहाँ लोग अभी तक रो सकते हैं ! तब तो इनमें हृदय है । वह कह रही थी—'दवाखाना लेकर अब आए हो ? पहले आते तो मेरे बच्चे तो बच जाते···!' अरे वह माँ थी । उसके छः बच्चे मर गये थे और सिर्फ दो बचे थे ।

'मैं अब यहीं लंगरखाने में काम करती हूँ, किसी तरह पेट भर जाता है । भीख नहीं माँगी जाती, बाबू···!' और वह फिर रो पड़ी—'मेरे बच्चे···!' दिल कड़ा कर हम लोग यहाँ से चल दिए । वह आँखों में आंसू-भरे हमें शत-शत आशीर्वाद देती-सी ज्यों की त्यों खड़ी रही ।

खेतों में कब्रें चुपचाप उदास-सी सोई पड़ी थीं, जिन्हें चिथड़ों में लिपटा एक बुड्ढा एक पेड़ की छाया में बैठा विरक्त भाव से देख रहा था । एक

टूटी-सी दीवार में तीन आले अब भी खड़े थे, मगर घर नहीं थे। आठों विध्वंस्त पड़े थे। उनके सामने बराबर-बराबर में तीस कब्रें पड़ी थीं। एक नवयुवक, जो देखने में बूढ़ा लगता था, उनकी ओर देख-देख मुस्करा रहा था। वे सब एक दिन जुलाहों के घर थे; पर अकाल के और बीमारियों के बाने ने सहसा उनके जीवन-व्यापार का अन्त दिया था।

'दिन में नहीं, दिन में नहीं, रात को', भट्टाचार्यजी कहने लगे, 'गां कब्रिस्तान की-सी छायाएँ नाचने लगती है। शिद्धिरगंज कभी भी भूलेगा कि एक दिन आदमी के बनाए अकाल ने उसका सत्यानाश दिया था। जो आदमी अपनी हड्डियों से—दधीच की हड्डियों से अमर कथा लिख गए हैं, बंगाल उनकी ज्वलन्त स्मृति को कभी भुलाएगा।'

मेरे मुँह से हठात् निकल गया—'उसे हिन्दुस्तान कभी नहीं भुला भट्टाचार्यजी, मानवता उसे कभी नहीं भुला सकेगी।'

डाक्टर आगे-आगे चल रहा था। हम लौट रहे थे। नदी की प सी धारा में कुछ नंगे लड़के नहा रहे थे, जिनकी पतली हड्डियों से ट कर छोटी-छोटी लहरें मानो निराश-उदास लौट जाती थीं। उन्होंने देखा और संकेत स्वर से चिल्ला उठे—'इन्कलाब जिन्दाबाद! इन्क जिन्दाबाद!!'

गर्व से मेरी छाती फूल उठी। कौन कहता है कि बंगाल मर गया!

जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी भी नहीं सकेगा। हड्डी-हड्डी से लड़ने वाले यह योद्धा जीवन की महान शक्ति अभी तक अपने में जीवित रख सके हैं। संसार कहता है, स्टालिनग्राड लोग खंडहरों में से लड़े थे और उन्होंने दुश्मन के दाँत खट्टे कर दि उन्होंने बर्बरता की धारा को रोककर रूस को गुलाम होने से बचा दि किन्तु मैं पूछता हूँ, क्या शिद्धिरगंज दूसरा स्टालिनग्राड नहीं? मनुष्य भू

तड़प-तड़पकर यहाँ जाने दे चुके हैं, वे भीषण रोगों का शिकार हो चुके हैं, उनके घर खंडहर हो गये गए हैं, कब्रों से जमीन ढंक गयी है, नदियों में लाशों की सड़ांध एक दिन दूर-दूर तक फैल गई थी, किन्तु मनुष्य का साहस जीवित है आज भी बंगाल के बच्चे क्रान्ति को नहीं भूले हैं। क्या इन योद्धाओं ने भारतीय संस्कृति की जड़ों पर होने वाले आघात को सहकर आज संसार को यह नहीं दिखला दिया कि जनशक्ति कभी पराजित नहीं हो सकती, वह कभी मर नहीं सकती? जब फासिस्तवाद से भी बर्बर नर-पिशाच मुनाफाखोरों ने अनाज पर बैठकर जहर उगला, कपड़ा-चारों ने उनकी बहू-बेटियों को निर्लज्ज होने दिया, तब भी क्या इन्होंने सिर झुकाया? नहीं ये वीरों की तरह लड़े हैं। आज शिद्धिरगंज की पृथ्वी शहीदों के मजारों से ढंक गयी है। युग-युग तक संसार को याद रखना पड़ेगा कि एक दिन मनुष्य के स्वार्थ और असाम्य के कारण, गुलामी और साम्राज्यवादी शासन के कारण, बंगाल जैसी शस्य-श्यामला भूमि में भी मनुष्य को भूख से दम तोड़ना पड़ा था? और लोगों ने उसे पूरी शक्ति से इसलिए झेला था कि मानवता जीवित रहना चाहती थी। उसे कोई मिटा नहीं सकता।

आज अकाल का वह पहला भीषण स्वरूप समाप्त हो चुका है किन्तु रोगों की वर्षा-आँधी के बाद प्रलय उमड़ा रही है। और इस समय भी लोग कहते —बंगाल का अकाल समाप्त हो चुका हैं! पर आज यह कुछ नहीं तो भी महामरण का भीषण नृत्य है। जब हम लोग शिद्धिरगंज से लौट रहे थे शीतलता की प्रशान्त धारा में न्हाता हुआ एक आदमी गा रहा था—

सोनार बांगला होलो शोंशान, एक साथे सबे चल।'

उसका यह स्वर दूर-दूर तक लहरों पर फैल उठता था।

शरत को जब यौवन ने छुआ था

विष्णु प्रभाकर

एक समय होता है जब मनुष्य की आशाएं, आकांक्षाएं और अभीप्सा मूर्त रूप लेना शुरू करती हैं। और यदि बाधाएं मार्ग रोकती हैं तो व्यक्ति के लिए वह कोई और मार्ग ढूंढ़ लेता है। ऐसी ही स्थिति में का जीवन चरम उपेक्षाओं और अनन्त आशाओं की छाया में बीत रहा न साधन, न स्नेह का वरदहस्त, न सहानुभूति और न प्रोत्साहन की वाणी, माँ की मृत्यु के बाद तो जैसे जीवन में कुछ मधुर और सरस रह नहीं गया था। लेकिन उसमें कहीं कुछ ऐसा था जो अतिशय भावुक होने बावजूद उसे जीवन से हार नहीं मानने दे रहा था। अपने आक्रोश आकांक्षाओं, अभावों और आदर्शों को, अभिव्यक्ति देने का माध्यम उसे गया था। इसी माध्यम ने उसमें जीने की अदम्य चाह पैदा कर दी थी।

सृजन के इन दिनों में वह आकंठ प्रेम में डूबा हुआ था। उस आयु हर युवक की आत्मा में प्रेम के लिए तड़प जागती है। विचारों और भावनाओं का जो तूफान उस समय उसके मन और मस्तिष्क को आलोड़ित करता रहता है उसकी कल्पना करना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। कैसी विभिन्नता ! कैसा विरोधाभास ! न सही हाड़-मांस की प्रेमिका, काल्पनिक प्रेमिका से भी तो यह भूमिका निभाई जा सकती है।

एक दिन वह अपने समवयस्क मामा सुरेन्द्र के साथ उसके घर गया। कुछ दिन पहले तक वह इसी घर का सदस्य था। सब कुछ जाना पहचाना इसलिए बातों का कोई अंत ही नहीं आ रहा था। रात बहुत बीत गई। सुरेन्द्र ने कहा, "चलो तुम्हें छोड़ आऊँ।"

रास्ते में फिर बातें होती रही। इस बार शरत ने कहा, 'चलो मामा, मैं तुम्हें छोड़ आऊँ।"

और इसी तरह रास्ता काटते-काटते वह रात कट गई। कितनी बातें की उन्होंने। सरस्वती उस दिन शरत की जिह्वा पर आ बैठी थी। सुरेन्द्र तो मात्र श्रोता था। इसी समय किसी प्रसंग में शरत ने कहा, मैं सचमुच एक लड़की से प्रेम करता हूँ।"

सुरेन्द्र आश्चर्य से उसकी ओर देखकर बोला, "क्या सच है?"

"हाँ, तुमसे क्या कभी मैं कुछ छिपाता हूँ?"

"कौन है वह।"

"न-न, यह नहीं बताऊँगा।"

"अच्छा उसका नाम तो बता!"

"उसका नाम है, नीरदा!"

शरत ने यह भी कहा कि बनेली राज्य के काम से यात्रा करते हुए वह एक दिन निरदा के प्रेम में पड़ गया था। वह कहानी दादी के राजकुमार जैसी थी। तेज घोड़े पर चढ़कर शरत भी अंधेरे में ही संथाल परगना की ओर चल देता था। वहीं तो थी उसकी वह प्रेमिका। उसके मन में तब एक ही बात रहती थी कि नीरदा उसकी राह देखती जागती बैठी है। हठात् वह घोड़े समेत एक दिन उस नदी में भी गिर पड़ा। लेकिन इससे क्या वह रुका? भीगे कपड़े पहने ही वह पवन-गति से उड़ चला।

सुरेन्द्र ने बड़े आश्चर्य से यह कहानी सुनी, लेकिन वह उस नीरदा को कभी देख नहीं पाया। कोई भी नहीं देख पाया। हाँ, चर्चा बहुत लोग करते थे। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि शरत एक यहूदी लड़की से प्रेम करता है। कुछ लोगों ने उसे भिन्न-भिन्न लड़कियों के साथ एकांत में बात करते

या बाँसुरी बजाते भी देखा था, लेकिन आश्चर्य इस बात का था कि किसी दूसरे को उस स्थिति में नहीं दिखा सका। उसका प्रेम इतना मौन, इतना रहस्यमय था कि उसका ताप ही लोगों को छूता था। रूप कभी किसी के सामने नहीं आ सका। नीरदा कभी कल्पनालोक एकांत में उसके पास ऐसे आती जैसे नींद में चल रहीं हो। उसे देखती रहती, बोलती नहीं। शरत को यह मौन असह्य हो उठता बोलता वह भी नहीं। नीरदा एकाएक पास आ बैठती, कहती "सुनाओ क्या लिखा है!"

शरत सुनाने लगता, उसकी श्वास जोर-जोर से चलने लगती। नीरदा मुस्कराती हुई अपना मस्तक उस अभागे के कन्धे पर रख देती फिर उसे होश न रहता। उसी बेहोशी में बाँसुरी बजाकर वह उसे कर देता। कभी उससे लड़ भी पड़ता और उसे छोड़कर चल देता। नीरदा उसकी तलाश में निकल पड़ती, उसे ढूँढ़ लाती, अपने घर ले जा सबसे अच्छी शैय्या पर उसे सुलाती, उसके लिए हुक्का तैयार करती, हाथों से संदेस बनाकर खिलाती। फिर उसकी चारपाई के पास ही पर लेटकर उसकी बातें सुनती, अंतहीन कल्पनालोक की बातें···।

कभी ऐसा भी होता कि वह अभिमान से उसे छोड़कर चली जाती कहती, "तुम्हारा-मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम कुछ भी तो न करते।',

"मैं······मैं······कृतिकार हूँ। एक दिन"

"कृतिकार!" वह हँस पड़ती, "कृतिकार भूखे मरते हैं, आवारा चरित्र-हीन, भला तुमसे मेरी शादी कैसे हो सकती है? कुल-मर्यादा विचार भी तो करना होगा।"

"कुल-मर्यादा? मैं कुल-मर्यादा में विश्वास नहीं करता। केवल दिखाऊ लोक-मर्यादा के ऊपर निर्भर करके तुम्हें निरर्थक दो प्राणों का नहीं करना चाहिए।"

फिर उग्र होकर कहता, "तुम यह सब कैसे कह सकीं ? तुम इतनी स्वाभिमानिनी हो, यह मैं नहीं जानता था। मैं तुम्हें नहीं चाहता। बिलकुल नहीं चाहता। तुम जो चाहो करो।"

"नाराज हो गए ! मैं जानती हूँ तुम मुझे प्यार नहीं करते। मैं चाहती भी नहीं कोई मुझसे प्यार करे। यह तो केवल मैं ही तुम्हें प्यार करना चाहती हूँ......।"

इस प्रकार नीरदा के साथ मान-मनव्वल का यह कार्यक्रम चलता रहता, लेकिन कब और कहाँ, यह कोई नहीं जानता था। सब यही जानते थे कि शरत दुश्चरित्र है। यह नीरदा बचपन की साथिन धीरू भी हो सकती है। कितनी कहानियाँ इस नाम के साथ जुड़ गई थीं। सुना कि वह शरत से विवाह करने को आतुर थी। यह भी सुना कि विधवा होने के बाद उसकी भेंट फिर शरत से हुई थी।

कहानियाँ ही कहानियाँ, सत्य कभी भी प्रगट नहीं हुआ, पर जाने दें धीरू को, नीरदा का एक नाम राजलक्ष्मी भी हो सकता है। और उसे पार्वती व माधवी भी कहकर पुकारा जा सकता है। और यह भी हो सकता है कि यह नीरदा निरुपमा ही हो। वह उसके मित्र की बहन थी। एक कुलीन परिवार की विधवा। उसकी रचनाएँ पढ़-पढ़कर अभिभूत होती रहती थी और शरत उसकी कविताओं की प्रशंसा करता रहता था। इसी प्रशंसा के माध्यम से मन ही मन प्रेम का अंकुर सब बाधाओं को ठेलकर ऊपर आ रहा था। एक दिन ऐसा हुआ कि वह घर में अकेली थी और शरत बाहर बैठक में बैठा हुआ था। अक्सर वहीं बैठकर वह कभी पढ़ता तो कभी लिखता। दिन का अधिकांश भाग उसका वहीं बीतता था। उस दिन न जाने क्या हुआ, वह अपने को रोक न सका। एकाएक उसके सामने आकर खड़ा हो गया। प्रेम दुस्साहसी जो होता है। बोला, "अजी कैसी हो ?"

अत्यन्त धर्मपरायण वह विधवा सहसा शरत को देखकर हतप्रभ रह गई। उस एक क्षण में जैसे सहस्र युग समा गए। फिर किसी तरह साहस

बटोरकर उसने कहा, "तुम यहाँ से चले जाओ तुम्हें यहाँ नहीं
चाहिए।"

"बूढ़ी······ ···।"

"···············।"

"···············।"

"जाओ, नहीं तो·········।"

और शरत मस्तक नीचा किए धीरे-धीरे वहाँ से लौट आया। नि
उसे इस बात के लिए क्षमा न कर सकी। उसने अपने दादा से
शिकायत की। कहा, "यह तुम्हारा मित्र कैसा है ? घर में कोई नहीं,
भी वह मुझसे बातें करने चला आया।"

दादा शरत के सहपाठी थे। उन्होंने सोचा होगा कि निर्धन, नि
और तत्कालीन मानदण्डों के अनुसार दुस्साहसी और दुराचारी शरत
साहस कैसे कर सका ? कोई सुन लेगा तो क्या होगा ? क्या होगा
परायण सम्भ्रान्त परिवार की इस विधवा का······?

लेकिन क्या इन दोनों का विवाह नहीं हो सकता ?

नहीं, नहीं, नहीं, यह दुस्साहस है।

उस युग में विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन तो बहुत हुए थे, लें
समाज ने उसे अभी स्वीकार नहीं किया था। यह प्रस्ताव भी कैसे स्वी
हो सकता था ? शायद किसी ने इस बात पर विचार नहीं किया हो
शायद यह सब कुछ उसके उर्वर कल्पना जगत में घटित हुआ होगा,
फिर·········।

कुछ भी हुआ हो, यौवन की उस प्रथम वेला में यह प्यार व्यर्थ
गया। समस्त उच्छृंखलताओं के बीच वह हमेशा के लिए उसके अन्त
समा गया।

यद्यपि निरूपमा उसकी रचनाओं को पढ़कर अभिभूत हुई थी, फिर
तत्कालीन सामाजिक कठोरता को देखते हुए उसके मन की बात जानने
कोई मार्ग नहीं था। जानने के लिए प्रयत्न करना भी अपमानजनक

सकता था। समाजशास्त्री सिर उठाकर कठोर स्वर में कह सकता था, "तुम एक उच्च कुल की विधवा को अपमानित करना चाहते हो। जिसने पर पुरुष की शक्ल नहीं देखी, वह प्रेम कैसे कर सकती है? ऐसा सोचना ही पाप है।"

लेकिन क्या एक तरफा प्रेम कम शक्तिशाली होता है? प्रत्युत्तर न मिलने पर भी प्रेम क्या अपने-आप में मधुर नहीं होता? प्रेम में सफलता ही उसके होने का प्रमाण नहीं है। मन ही मन किसी के लिए अपने को निर्सजित किया जा सकता है। इस वेदना को स्नेह कहो, प्रेम कहो, आयु का दोष कहो, पर इसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। उसमें प्रेम की भूख अपार है, लेकिन तृप्ति का कहीं कोई साधन नहीं है। यह अतृप्ति दर्द के रूप में कुण्डली मारकर उसके अन्दर में रम गई और उसकी अभिव्यक्ति हुई 'देवदास' और 'बड़ी दीदी' आदि रचनाओं में। इन रचनाओं में असफल प्रेम का वही दर्द परिव्याप्त है। नीरदा हो या निरुपमा, 'देवदास' की पारो हो या 'बड़ी दीदी' की माधवी, वे सब एक ही हैं। असफल प्रेम की वेदना की प्रतिमाएँ। निरुपमा उसे चले जाने के लिए कहती है। माधवी भी सुरेन्द्रनाथ के आने पर छोटी बहन प्रमिला से कहती है, "प्रमिला, मास्टर साहब से बाहर जाने के लिए कह दे।"

लेकिन वह निरुपमा के समान कठोर नहीं थी। वह जाने के लिए कहती है, लेकिन कोमल स्वर में। सिर पर एक हाथ का घूँघट खींचकर एक कोने में खिसक जाती है और बाद में लाज के मारे सुरेन्द्रनाथ की देख-रेख में कुछ कमी भी कर देती है।

ये सब उपन्यास की बातें हैं। लेकिन भित्तिहीन वे नहीं हैं। उसके भोगे हुए यथार्थ पर आधारित है : बहुत वर्षों बाद अपराजेय कथाशिल्पी शरतचन्द्र ने सुप्रसिद्ध कवयित्री राधारानी देवी को लिखा था, "कभी सम्भव हुआ तो तुम्हें एक कहानी सुनाऊँगा। सुनने में कथा कहानी की तरह अवास्तविक लगेगी लेकिन इससे अधिक वास्तव सत्य मेरे जीवन में और कुछ नहीं है।"

क्या यह कहानी निरुपमा की कहानी ही नहीं है ? उसके सत्य-तक पहुँचने का कोई मार्ग अब शेष नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात है कि प्रेम में असफल होकर भी शरत न तो आत्महत्या कर सका और न सन्यासी बन सका, लेकिन स्रष्टा वनने का मार्ग निश्चय ही उसे मिल गया। इस धार्मिक अनुभूति ने साहित्य में प्रतिबिम्बित होने का मार्ग पा लिया। नीरदा या निरुपमा से मिलन उसकी व्यक्तिगत तृप्ति का कारण हो सकता था। परन्तु विछोह ने एक शक्तिशाली कलाकार को जन्म दिया। उसके उच्छृंखल जीवन की जो अतृप्ति थी, वही उसके साहित्य-सृजन का मूलधन बनी। प्रेम की पीड़ा और साहित्य-यात्रा एक साथ चलने लगी। विरहवोध ही जीवन और यौवन का आवेग हैं। बुद्धि इसकी थाह नहीं पा सकती, हृदय से ही इनका स्वरूप जाना जा सकता है। उसके साहित्य में यही विरहवोध मुखर हुआ। आदर्श और यथार्थ, समस्या और समाधान, सब कुछ हृदय-रस की संजीवनी में डूबे हुए हैं।

एक और क्षेत्र से उसकी इस प्रवृत्ति को बल मिला . 'वंगदर्शन' में उसने 'आँख की किरकिरी' पढ़ी थी। रविन्द्रनाथ ने अपनी इस युगान्तरकारी रचना में विधवा के प्रणय को स्वर दिया है और वंकिमचन्द्र की तरह आदर्श की रक्षा के नाम पर उसकी हत्या नहीं की। स्पष्ट कहा कि यदि किसी विशेष अवस्था में कोई विधवा किसी पुरुष के प्रति आसक्त हो जाती है तो उसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है, इसके विपरीत कृष्णकांत के वसीयतनामा में रोहणी की प्रणय-आकांक्षा को सार्थक न करके वंकिमचन्द्र ने उसकी हत्या करा दी है। इसके लिए शरत जीवन-भर उन्हें क्षमा नहीं कर सका, और रवीन्द्रनाथ की संस्कार-मुक्ति के कारण जीवन-भर उनको गुरु मानता रहा।

उसके अन्तर के संघर्ष के मूल में ये दो साहित्यस्रष्टा शुरु से ही आसन मार के वैठ गये थे।

सृजन का सुख

डॉ० हरिवंश राय बच्चन

१९२३-२४ में कविता के नाम से जो मैंने लिखा था वह मैंने नष्ट कर दिया था। उसके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं; उसमें वास्तविकता होगी, अभिव्यक्ति होगी, पर प्रेषण, उद्‌बोधन शायद ही रहा होगा, जिसके बिना कविता कविता नहीं होती। १९२९ से मैं फिर कुछ लिखने लगा था, '३० से विशेषकर, जब मैंने युनिवर्सिटी छोड़ दी थी। १९३० की युनिवर्सिटी प्रतियोगिता में मेरी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला था,'३१ में मैं युनिवर्सिटी का विद्यार्थी न था, पर प्रतियोगिता में मैंने कहानी भेज दी थी। वह कहानी 'हृदय की आँखें' इतनी अच्छी समझी गई कि प्रतियोगिता के अंत में पढ़वाई गई। प्रेमचंद ने उसे 'हंस' में छापा। यह मेरे लिए बहुत बड़ा प्रोत्साहन था। मैं सोचने लगा शायद मुझमें कहानीकार के बीज हैं और मैं अभ्यास करता जाऊँ तो संभव है मैं किसी दिन कहानी के क्षेत्र में अपने लिए कोई स्थान बना सकूँ। साथ ही कविताओं के लिए प्रेरित करने को भी मेरे पास कम न था। मेरी कविताओं को देखनेवाले इने-गिने थे, घर पर शायद श्यामा अकेली, निकट के मित्रों में केवल महेश, दूर के मित्रों में केवल श्रीकृष्ण सूरी; मेरे कहानीकार से मेरा कवि अधिक संकोचशील था। श्यामा की शिक्षा घर पर ही हुई थी—थोड़ी हिंदी की, थोड़ी अंग्रेजी की; एक ईसाई महिला उसको और उसकी चचेरी बहनों को पढ़ाने आती थी। पढ़ने का उसे शौक़ था, कविता का भी, जो विशेषकर मेरे संपर्क से और बढ़ा। कविता की

कोई अच्छी पुस्तक मैं देखता तो उसे खरीद लाता, उसे भेंट कर देता; वह खुद पढ़ती, अक्सर तो उसकी लंबी-लंबी बीमारियों में मैं ही उसे पढ़कर सुनाता। महेश मेरी कविताओं को पसंद करते, सूरी मेरी कविताओं की प्रशंसा करते, और श्यामा चाहती कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव किया ही होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मन: शक्तियों का पूर्ण केन्द्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण मैं काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ—जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ—कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है—तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे। और उन दिनों मेरी 'समाधि' में किसी प्रकार की बाधा न बनने का श्यामा ने सब तरह से प्रयत्न किया। स्कूल या विद्यापीठ में पढ़ाने में निश्चय मुझे उससे ज्यादा समय लगाना पड़ता था जितना युनिवर्सिटी में पढ़ने में : ट्यूशनें दो या तीन मुझे अब भी करनी पड़ती थीं, फिर भी अपने पढ़ने-लिखने के लिए मेरे पास काफ़ी समय था। सुबह जल्दी जागने, रात को देर से सोने का लंबा अभ्यास अब आदत बन गया था।

लगभग चार वर्ष अपने विविधतापूर्ण स्वाध्याय के अतिरिक्त मैं कहानियाँ भी लिखता रहा, कविताएँ भी लिखता रहा—जैसे कवि और कहानीकार दोनों मेरे अंदर परस्पर संघर्ष कर रहे हों और अभी तक मैं निश्चय न कर सका हूँ कि विजय का सेहरा किसके माँथे बाँधूँ। कुछ कविताएँ-कहानियाँ पत्रों में भी छपीं। मैंने कहानियों का एक संग्रह तैयार किया। जैसे नये लेखकों के मन में प्राय: यह कमज़ोरी होती है कि कोई बड़ा आदमी उनकी कृति की भूमिका लिख देगा तो प्रकाशक उसे फौरन छाप देगा, मुझमें भी थी। मैंने उसकी भूमिका डॉ० धीरेन्द्र वर्मा से लिखवाई। ज़मीन से उड़कर

मैं पेड़ की डाल पर, फुनगी पर नहीं, एकदम पहाड़ की चोटी पर बैठकर चहकना चाहता था। मैंने अपना संग्रह प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत किया 'हिंदुस्तानी अकादमी' को। कुछ दिनों बाद अकादमी ने प्रकाशित करने में असमर्थता व्यक्त करके संग्रह लौटा दिया। निराश होना स्वाभाविक था। पहले तो मैंने डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की भूमिका फाड़ी, फिर कहानियाँ फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दीं। चौदह वर्षों बाद जब भारती भंडार ने मेरी प्रारंभिक रचनाओं को छापना चाहा तो मुझे उन्हें पत्र-पत्रिकाओं से अपने पुराने कागजों के फ़र्स्ट ड्राफ्टों से फिर से तैयार करने में काफ़ी परेशानी उठानी पड़ी। शायद उसी दिन मेरे मन ने यह निर्णय लिया था कि मैं कहानीकार नहीं बन सकता, अब कविता की दिशा को अपनाऊँ। संग्रह प्रकाशित हो जाता तो उसका प्रोत्साहन शायद मुझे कहानी, उपन्यास के क्षेत्र में बढ़ने को प्रेरित करता। जीवन की ऐसी आकस्मिक घटनाएँ ही वास्तव में जीवन को दिशा देती है; और जिसे हम 'नियति' का गंभीर-सा नाम देते हैं वह शायद बहुत नगण्य-सी लगने वाली घटनाओं से अपने बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त करती रहती है। क्या मेरे अंदर का कहानीकार मर गया? मरता जीवन में कुछ भी नहीं, केवल रूप बदलता है। कहानीकार मेरे कवि में आत्मसात् हो गया। ऐसा मेरे बहुत-से पाठक मुझसे कहते हैं कि मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे किसी कहानी की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। कुछ लोगों ने मेरी कतिपय कविताओं को लेकर वास्तव में कहानियाँ गढ़ी हैं, वे छपी भी हैं, बहरहाल, उस दिन के बाद मैंने केवल एक कहानी लिखी, अगर कहानी उसे कह सकते हों तो, जो 'निशा 'निमंत्रण' के आरंभ में है।

कविताओं के भी मैंने कई संकलनों की कल्पना कर डाली थी और उन्हें अलग-अलग कापियों में लिखकर श्री कृष्ण सूरी के पास भेज दिया था। पहला संग्रह 'तेरा हार' के नाम से छपाना चाहता था। उन्हीं दिनों मुंशी कन्हैया-लाल के संपादन में श्री शुकदेव प्रसाद 'बिस्मिल' इलाहाबादी का उर्दू संग्रह 'दीवाने बिस्मिल' के नाम से शायद इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। मेरा आना-जाना मुंशी कन्हैयालाल के यहाँ था ही, जिनको हम घर पर बुचुन दादा कहते थे। मैंने उनके सामने अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने मेरी ओर

से कटरा के रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर से बात की। वे मेरा संकलन छापने को तैयार हो गए, शर्त यह रक्खी कि एक हज़ार प्रतियाँ छापेंगे, मगर रायल्टी कुछ न देंगे, सिर्फ ढाई सौ प्रतियाँ भेंट स्वरूप मुझे दे देंगे, दाम एक रु० होगा, मैं चाहे बेच लूँ, चाहे बाँट दूँ। यश के लोभ ने अर्थ के लाभ पर विजय पाई। मैंने प्रकाशक की शर्त स्वीकार कर ली। संपादक की जगह पर—हालाँकि इसकी जरूरत नहीं थी—मुंशी कन्हैयालाल एम० ए०, एल-एल० बी का नाम छपा—जोकि संपादन उन्होंने एक अक्षर का न किया था; मैं स्वीकार करूँगा, मेरी इच्छा से—'रचयिता' के न-कुछ-से हल्के नाम 'बच्चन' को संपादक के एक भारी, डिग्रीधारी नाम का सहारा और वज़न देने के लिए। प्रारंभिक 'संबोधन' में भी पता उनके निवास 'कृष्ण-कुंज' का दिया गया। जिस दिन पुस्तक प्रकाशित हो गई, शायद सन् '३२ की जनवरी का पहला सप्ताह था, मैं प्रकाशक के यहाँ अपनी प्रतियाँ लेने गया। मुझे ढाई सौ प्रतियों का बंडल दे दिया गया और उसे अपने कंधे पर रखकर मैं ऐसे ही गर्व से चला जैसे पक्षिराज गरुड़ भगवान विष्णु को अपनी पीठ पर बिठाकर उड़े जा रहे हों—हाँ, मैं उड़ा ही जा रहा था, मेरे पैर जैसे धरती पर नहीं पड़ रहे थे। मेरी सर्वप्रथम कृति प्रकाशित हो गई थी ! पहली बार अनुभूति हुई कि कवि की पहली रचना का प्रकाशन उसके लिए उतना ही रोम-प्रहर्षक होता है जितना प्रेयसी का प्रथमालिंगन !

रास्ते की एक घटना अविस्मरणीय है। कटरे में मेरे एक मित्र रहते थे श्याम गोपाल शिवली। उनके चाचा राम गोपाल शिवली—सरकारी शिक्षा-सेवा में किसी पद पर थे—सामने से आते दिखे। पूछा, क्या लिए जा रहे हो बंडल में ? इससे अधिक सुखद प्रश्न शायद ही जीवन में मुझसे किसी ने पूछा हो। मैंने विभोर होकर कहा, "मेरी पहली पुस्तक प्रकाशित हो गई है !" छायावादी 'नीरव स्वर' की कोई सत्ता हो तो उसमें मैं यह वाक्य उद्घोषित करता चल ही रहा था। मैंने बंडल खोलकर उनको एक प्रति भेंट करनी चाही। उन्होंने अपनी जेब से एक रुपया निकाला, कहा "मैं तुम्हारी पहली किताब की पहली प्रति मुफ्त नहीं लूँगा, खरीदूँगा। पहली बोहनी दिन भर की बिक्री का भाग्य निर्णय करती है, तुम्हारी पुस्तकें लाखों में

बिकें !" मेरी माँ कहती थी कि दिन भर में एक बार सरस्वती स्वयं मनुष्य की जिह्वा पर बैठकर बोलती हैं। उस समय राम गोपाल शिवली की जिह्वा पर सचमुच सरस्वती बोली थीं। शिवली साहब का देहावसान हो चुका है। मैं उनकी हृदय से निकली सच्ची सद्भावना के प्रति सदा नतमस्तक रहा हूँ। घर आया तो श्याम के उल्लास को क्या बताऊँ। पुस्तक देखकर उसका ज्वर उतर गया था, जैसे कभी बीमार ही नहीं रही हो; एक रात के लिए वह ज्वाय साकार हो गई थी।

उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में 'तेरा हार' की जो आलोचना हुई थी उसे आज मैं अतिशयोक्ति कहूँगा, पर उससे मेरे कवि को निश्चय प्रोत्साहन मिला था। विश्वास को भी प्रोत्साहन चाहिए। मेरे कवि होने का विश्वास मुझमें श्यामा ने दृढ़ किया था, और उसका समर्थन श्री कृष्ण ने। 'प्रताप' ने लिखा था, 'कविताएँ उत्तम भावों से परिपूरित हैं', 'चाँद' ने, 'कविता प्रेमियों को इसे एक बार अवश्य देखना चाहिए,' 'वीणा' ने, 'बच्चन उन छिपे हुए सुकवियों और सुलेखकों में हैं जिनकी प्रतिभा का फूल खिलकर भी अपने आप में ही छिपा रहना चाहता है,' 'हंस' ने, 'कवि अपने आंतरिक भावों को व्यक्त करने में सफल हुआ है। भाव भी समझने में कठिनाई नहीं होती। जटिल कल्पना तथा शब्द-जाल से लेखक दूर है···लेखक सचमुच कवि-हृदय है और होनहार है' और 'विश्वमित्र' ने लिखा था, 'इसके रचयिता महोदय का नाम यद्यपि हम हिन्दी में प्रथम बार देख रहे हैं तथापि कविताएँ पढ़ने से मालूम होता है कि वे इस कला में सिद्धहस्त है।' यह सब पढ़कर उस समय सुख हुआ था, पर 'कला' मुझमें कितनी है यह मैं बखूबी जानता था। मैंने अपनी अनुभूतियाँ स्वाभाविक ढंग से कही थीं, या इस ढंग से जो मेरे लिए स्वाभाविक था। यदि यही कला है तो काव्य-कला की साधना मेरे लिए दुःसाध्य नहीं होनी चाहिए। मुझे बल था तो अपनी अनुभूतियों का; यदि उसके ताप में, दाह में शब्द कला बनाकर निकल सके तो निकले। कला के संबंध में यह मेरा मूलभूत सिद्धान्त तब भी था, आज भी है; मैं कवि हूँ तो मुझे वचनप्रवीण होने की आवश्यकता नहीं। अपनी बात कहने में, पूरी तरह कहने में, जितनी वचन-प्रवीणता उससे अनिवार्य रूप में संबद्ध

होकर, जुड़कर आए, मेरे लिए उतनी ही पर्याप्त है, जैसे मांस के साथ त्वचा। त्वचा के ऊपर रंग-रोगन लगाने, क्रीम-पाउडर पोतने की न मुझसे क्षमता है और न वह मेरी रुचि के अनुकूल है; त्वचा में, मांस में दौड़ते स्वस्थ रक्त की जितनी आभा है कविता में उतनी ही कला मुझे सह्य है। जो कवि है, जो कवि है, यानी जो भावों का धनी है, अनुभूतियों से विदग्ध है उसे 'कवित विवेक' की आवश्यकता नहीं—'कवित विवेक एक नहिं मोरें, सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरें,' और इसकी अंतिम परिणति इसी आत्मानुभूति में होती है, 'कवि न होउँ।' इसको कई तरह से संसार के बड़े कवियों ने कहा है, कीट्स ने कहीं लिखा है, कविता ऐसे ही सहज रूप से कवि के पास आनी चाहिए जैसे पेड़ में पत्तियाँ; पर पेड़ धरती के भीतर-भीतर जो भोगता-जीता सहता-खटता-खपता-मरता-चुरता है वही तो पत्तियों के निकलने की सहजता बनता है। थोरो ने किसी ने पूछा, शैली क्या है? उसने कहा, बन्दूक का घोड़ा दबाना। पर घोड़ा दबाना तभी प्रभावकारी, सार्थक हो सकता है जब बन्दूक भरी हो और नली निशाने पर सधी। मेरा लक्ष्य तो यही रहा है कि मेरी बन्दूक भरी हो और कविता लिखना मेरे लिए इतना ही सहज हो जैसे घोड़ा दबाना। शायद मैंने अपने काव्य-जीवन भर यही किया भी है, यह और बात है कि कभी मेरी बन्दूक में थ्री-सेवेन-फाइव की गोली रही है, कभी थ्री-नाट-थ्री की, कभी छर्रे रहे हैं, और कभी शायद सूखी या गोली बारूद भी रही है।

'तेरा हार' जिन दिनों प्रकाशित हुआ मैं प्रयाग महिला विद्यापीठ में पढ़ाता था। महादेवी जी वहाँ प्रिंसिपल बनकर आईं तो मैंने 'तेरा हार' की एक प्रति उन्हे भेंट की।. मुझे याद है, उन्होंने उसे उलट-पलटकर मुझसे कहा था, हार तो मोती-माणिक का होता है—नौलखा हार—फूलों की तो माला होती है। बात तो मैंने उसकी मान ली, पर उनके सामने उनकी एक पंक्ति भी सुना दी, 'चढ़ा न देवों के चरणों पर, गूँथा गया न जिसका हार,' शायद उनपर यह व्यक्त करने के लिए कि मैंने उनकी रचना 'नीहार' ध्यान से पढ़ी है। प्रयाग महिला विद्यापीठ में महादेवी जी के संपर्क में आने की और कोई बात मुझे याद नहीं।

मेरे जीवन और मेरे काव्य दोनों के विकास में 'रुबाइयात उमर खैयाम' और उसके मेरे अनुवाद का विशेष स्थान है। जिन परिस्थितियों में 'रुबा-इयात' मेरे प्राणों की पुकार बनी उसकी चर्चा मैं विस्तार से 'खैयाम की मधुशाला' की भूमिका में कर चुका हूँ। यह अनुवाद मैंने १९३३ की गर्मियों में किया। जो बातें पहले कह चुका हूँ उनको दुहराना बेकार होगा। यहाँ सिर्फ इस पर जोर डालना चाहता हूँ कि यह अनुवाद मैंने किसी साहित्यिक अभ्यास के रूप में नहीं किया था; जैसे मैं जीवन की बहुत-सी विवशताएँ जी रहा था वैसे ही यह अनुवाद करना भी मेरे जीवन की एक माँग, मेरे जीने की एक विवशता थी। इतना इस अनुवाद ने अवश्य किया कि जो कुछ अपना भोगा, सहा, जिया कई वर्षों से मेरे अन्दर घुमड़ रहा था, इसने उसे व्यक्त करने का एक प्रतीक, एक मुहावरा दिया। उमर खैयाम के प्रति मैंने अपना ऋण एक कविता में स्वीकार किया है, पर बिना अपनी पूँजी के 'मधुशाला' का प्रासाद नहीं खड़ा किया जा सकता था। अपने उपर्युक्त रूपक बन्दूक का प्रयोग करूँ तो मुझे कहना होगा कि बन्दूक मेरी भरी थी, बड़ी ही जीवंत, सशक्त और लक्ष्यवेधी गोलियों से। उमर खैयाम से जो मैंने सीखा वह केवल घोड़ा दबाना था। घोड़े दबाने की कला कोई छोटी कला नहीं है। बहुत-सी दुनिया की भरी बन्दूकें इसके अभाव में भरी की भरी ही पड़ी रहा जाती हैं, गोलियाँ जाम हो जाती हैं और आदमी भूल भी जाता है कि कभी उसके पास इतना मजबूत हथियार था। पर बिना भरी बन्दूक के सिर्फ घोड़ा दबाने वाले शायद अधिक उपहासास्पद हैं।



आजाद की माताजी

बनारसी दास चतुर्वेदी

"माताजी आ गईं ! चलो, उनका स्वागत कर लें।" यह सुनते ही जल्दी से हाथ-मुँह धोकर घर से बाहर आया और पूज्य माताजी के चरण-स्पर्श किये। उनके साथ आजाद के पुराने सहयोगी मास्टर रुद्रनारायण जी तथा बन्धुवर भगवानदासजी माहौर के भी दर्शन हुए। मानो घर बैठे तीर्थ आ गये हों ! वह दिन हमारे लिए चिरस्मरणीय रहेगा। पर श्रद्धेय माताजी का यह शुभागमन कोई आकस्मिक घटना न थी।

दस वर्ष पहले की बात है। जिस दिन हमने 'विप्लव' में श्री वैशम्पायन जी द्वारा लिखित आज़ाद के जन्मस्थान की तीर्थयात्रा का वृत्तान्त पढ़ा था। और उस झोंपड़ी के तथा माताजी के चित्रों को देखा था, हमारी आँखें डबडबा आई थीं और हमने यही कहा था—"यदि हमलोग अलफ्रेड-पार्क प्रयाग से (जहाँ आज़ाद शहीद हुए थे) भाबरा (अलीराजपुर) तक की पैदल यात्रा करके माताजी के चरण-स्पर्श करें, तो शायद हम आज़ाद को सच्ची श्रद्धाञ्जलि देने के कुछ अधिकारी बन सकते हैं।"

पर अपने बहुधन्धीपन तथा प्रमाद के कारण हम पैदल तो क्या रेल द्वारा भी भाबरा न पहुँच सके ! और वह ७०-७५ वर्ष की वृद्धा आज हमारे

यहाँ स्वयं ही आ पहुँची थीं। माताजी ने चार दिन तक इस भूमि को पवित्र किया और उन चार दिनों में हमने समझा कि इस साधनहीन भोली-भाली बुढ़िया के हम कितने ऋणी हैं।

माताजी पुराने विचारों की हैं। आते ही वे लड़कियों से इस प्रकार मिली-भेंटीं, मानो वे चिरपरिचित हों और अपने घर में ही आ रही हों। दिनों में ही माता जी इतनी घुल-मिल गईं कि लड़कियों को उचित आदेश देने लगीं। पुत्री देवकी से बोलीं—"भोजन करने के बाद तुम हमारे पास में नहीं बैठीं?" लड़की ने सकपकाकर उत्तर दिया—"माताजी, हमें नींद आ रही थी, सो दूसरे कमरे में जाकर सो गई।" माताजी ने कहा—"नहीं, तुम्हें हमारे पास आना ही चाहिए था। हमारा हुकुम मानो।"

दरअसल माताजी में वात्सल्य की अतृप्त भावना प्रबल मात्रा में विद्यमान है। बुढ़िया के पाँच बच्चे एक के-बाद-एक चल बसे हों, उसके मन में यह भावना आना सर्वथा स्वाभाविक है कि कोई तो हमारी बात बच्चों की तरह माने, किसी पर तो हम प्रेमपूर्ण 'हुकुम' चला सकें! आज़ाद को शहीद हुए ग्यारह वर्ष हो चुके और उनके पिता पण्डित सीतारामजी तिवारी भी ग्यारह वर्ष पहले चल बसे। भाबरा ग्राम में एक कोने पर भीलों के बीच एक झोंपड़ी में माताजी अपने वैधव्य के ग्यारह वर्ष बिल्कुल एकान्त में काटती रही हैं। ब्राह्मण के सिवाय किसी दूसरे के हाथ का बना कच्चा भोजन वे कर नहीं सकतीं और ब्राह्मण-कुटुम्ब उस ग्राम-भर में शायद एक ही है। तीन-चौथाई आबादी मुसलमानों और भीलों की है। पैसे की कहीं से आमदनी नहीं। कहीं से कुछ मिल गया, तो दोनों वक्त का भोजन एक वक्त बनाकर रख लिया। रोटी और दाल ही उनका खाद्य रहा है। और वह कभी-कभी बासी ही खाती रही हैं। ग़रीबी में कौन किसको पूछता है? भला हो आज़ाद के साथियों का, जिन्होंने माताजी की एकाध बार खोज-खबर तो ली! पर वे भी स्वयं अत्यन्त साधनहीन और व्यस्त रहे हैं। अतएव माताजी के जीवन के पिछले ग्यारह वर्ष घोर संकट में ही बीते हैं और यह बात हम सबके लिए लज्जाजनक है।

पर दूसरों को दोष न देकर हम स्वयं अपने को ही अपराधी मानते हैं। यदि हम वैशम्पायनजी का लेख पढ़ने के बाद तुरन्त भावरा चले गये होते तो शायद कुछ-न-कुछ सेवा उनकी हो ही जाती। पर हम सोचते-विचारते ही रहे और यह आवश्यक कर्त्तव्य हमसे न बन पड़ा।

माताजी के दर्शन करते समय हमें ख़याल आया कि आज भी देश के सैकड़ों शहीदों के निराश्रित कुटुम्ब सहानुभूति के दो शब्दों के भूखे हैं। और भी वे प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कोई कृतज्ञतापूर्ण हृदय से दो-चार बातें स्वर्गीय प्राणी के विषय में सुनावे, उन्हें कुछ सान्त्वना दे, उनकी कुछ उन्हें आँसू वहाने का कुछ मौका दे।

माताजी अपने बच्चे चन्द्रशेखर की बातें किसी को सुनाना चाहती थीं। अमरशहीद आज़ाद को वे तब भी नहीं समझ सकी थीं, आज भी नहीं समझ पातीं। वे तो उसी चन्द्रशेखर को जानती हैं, जो उनके पेट में नौ महीने रहा था, जो बर्फ़ीका बड़ा प्रेमी था, जो उनसे झगड़-झगड़कर पैसा लिया करता था और जो पिताजी से (तिवारी जी से) बोलता भी न था।

माताजी लड़कियों को अपनी बातें सुनातीं और आज़ाद का ज़िक्र आते ही उनका गला भर आता और वे फूट-फूटकर रोने लगतीं, माताजी ने कहा— "बेटा चन्द्रशेखर जब पैदा हुआ था, तब कमजोर-सा था। हमारे यहाँ गाय-भैंस तो थीं, पर वे दूध बहुत थोड़ा देती थीं, इसलिए दूध हम घी के लिए जमा देती थीं और थोड़े से दूध में बहुत-सा साबूदाना मिलाकर खीर बना देती थी और दिन में कई बार वही खीर बच्चे (चन्द्रशेखर) को खिलाया करती थीं। ज्यादा दूध हमारे यहाँ होता ही न था, पर बच्चा साबूदाना खा-खाकर ही खूब मोटा-ताज़ा बन गया। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ कहने लगीं "बच्चा तो बहुत सुन्दर लगता है।" कहीं उनकी नज़र न लग जाय; इसलिए चन्द्रशेखर के काजल लगाकर उसके माथे पर डिठौना लगा दिया करती थी। बच्चा खूब तन्दुरुस्त हो गया था। हाय! क्या मैंने उसे इतनी फिक्र से इसलिए पाला-पोसा था कि वह किसी दिन गोली से मारा जाय!" इसे कहते-कहते माताजी का गला भर आया और फिर उनके आँसू रुकते न थे! लड़कियाँ भी विह्वल हो गईं! उन आँसुओं को पोंछने की शक्ति किसमें है?

फिर माताजी सुनाने लगीं—"चन्द्रशेखर अपने पिता जी से ज्यादा नहीं बोलता था। जो-कुछ उसे लेना होता, मुझसे ही लेता था, और मैं भी उसके पिताजी के पैसों की चोरी करके उसे दे दिया करती थी। जब वह बाहर चला गया था तब भी चिठ्ठी मेरे पास भिजवाकर रुपये मँगाया करता था और मैं तिवारीजी की चोरी से उसे दो-चार रुपये भेज ही देती थी! बच्चे के लिए मैंने बाप की चोरी की!" ऐसा कहते-कहते माताजी फिर रोने लगीं। जब चोरी का पता चल जाता, तो तिवारीजी नाराज़ होकर कहते—"तुम्हीं ने लड़के की आदत खराब कर दी है।"

शहीद आज़ाद के पूज्य पिता पण्डित सीताराम तिवारी बगीचे की रखवाली करते थे और उनका वेतन था पाँच रुपये महीना! पर वह बुड्ढा अजीब आनबान का आदमी था। क्या मजाल कि कोई आदमी एक कच्चा आम भी बाग़ से ले जाय! खुद तो कभी लेने से रहे! एक बार स्थानीय तहसीलदार साहब ने बग़ीचे से छाँटकर बढ़िया बैंगन अपने घर के लिए मँगाये, तो तिवारीजी ने बग़ीचे की ताली ही उन्हें वापिस भेज दी और कहला दिया कि यह बेईमानी हमसे न होगी! अच्छे बैंगन आप छाँट लेंगे, तो बाजारों में बाकी का भाव गिर जायगा। रियासत को घाटा रहेगा। मुझसे यह पाप न होगा। आप ही बगीचा सम्हालिये! तहसीलदार साहब घबरा गये। उन्होंने ताली तिवारीजी को लौटा दी।

मास्टर रुद्रनारायणजी ने यह घटना हमें सुनाई और कहा—"जब वह बुड्ढा बड़े स्वाभिमान से कहता—'इस तिवारी ने छदाम के लिए भी किसी का अहसान नहीं लिया', तो उनका चेहरा गौरव की अनुभूति से लाल हो जाता था।"

और जिस समय चन्द्रशेखर आज़ाद कहते थे—"पार्टी से हमें कुल छै पैसे भोजन के लिए मिलते हैं। इतने में पेट नहीं भरता, पर क्या किया जाय? ज्यादा पैसे हमारे पास हैं ही नहीं। हमारे कुछ साथी डबलरोटी और मक्खन क्यों खाना चाहते हैं, समझ में नहीं आता!" उस समय तिवारीजी की स्वाभिमानी आत्मा ही उनके आत्मज आज़ाद में बोलती थी।

हमारे निकटस्थ वन के रक्षक भगवानदास (मिठई) को आज़ाद के साथ ओरछे के जंगल में भ्रमण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मिठई ने माता जी से कहा—"माताजी, आपकी भेजी हुई वर्फी हमने भी खाई थी। उसमें इलायची पड़ी थी।"

सुनते ही माताजी ने कहा—"हाँ, हमारे बच्चे को वर्फी अच्छी लगती थी और जब वह भावरा आया था तब हमने बर्फी बनाकर उसको दी थी। उसके बाद बच्चे को फिर नहीं देखा। वही आखिरी मिलन था।"

माताजी की अश्रु-धारा फिर बहने लगी। आज़ाद की जीवित अवस्था में जब मास्टर रुद्रनारायणजी भावरा गये थे, तो चलते समय माताजी ने ज़बरदस्ती एक रुपया उनकी लड़की के लिए दिया था और एक अठन्नी यह कहकर दी थी कि "इसकी वर्फी लेकर बेटा चन्द्रशेखर को खिला देना। बच्चे को वर्फी बहुत भाती है!"

आज़ाद ने भारत की स्वाधीनता के लिए क्या क्या वीरतापूर्ण कार्य किये, इसका पता माताजी को अभी तक नहीं है। कोई आज़ाद की बातें करता है तो माताजी चुप-छिपकर उसे सुन लेती हैं और फिर बीमार पड़ जाती हैं। उनके हृदय के घाव ताजे हो जाते हैं, उन्हें ज्वर हो आता है और वे खाना-पीना छोड़ देती हैं। यही नहीं, वे कुछ विक्षिप्त भी हो जाती हैं। ऐसी हालत में वे यह ख़याल करने लगती हैं कि आज़ाद जिन्दा है और जान-बूझकर तंग कर रहा है, मिलने नहीं आता! आज़ाद की बाल्यावस्था की याद उनके नेत्रों में ('नेत्र' में कहना चाहिए, क्योंकि माताजी आज़ाद के लिए सिर पटक-पटककर अपनी एक आँख खो चुकी हैं।) अब भी विद्यमान है, जब वह एक ओर से पीछे से आकर कन्धा पकड़कर 'ता' किया करता था और फिर दूसरी ओर से कन्धा पकड़कर 'ता' किया करता था!

माताजी कहती हैं—"सब जगह देख आई, चन्द्रशेखर नहीं मिला। सातार नदी के किनारे नहीं मिला। ओरछा में नहीं मिला। त्रिवेणी पर नहीं मिला। मुझे आशा लगी थी कि वह कहीं-न-कहीं से निकलकर आ जाएगा

पर जब मैं अलफ्रेड-पार्क में गई और वहाँ मुझे वह जगह बताई गई, जहाँ मेरा बच्चा गोलियों से मारा गया था, तब मेरी यह आशा भी टूट गई कि बच्चा कहीं मिल जायगा।"

माताजी का स्वास्थ्य दिनों-दिन विगड़ रहा है। बची हुई आँख में मोतियाबिन्द हो रहा है। साल-भर चल जायें, तो चल जायें। ग़नीमत यह है कि अभी-अभी संयुक्त-प्रान्तीय तथा मध्य-भारतीय सरकारों ने २५-२५ रुपये महीने की पेन्शन कर दी है और इस प्रकार छै सौ रुपये दान करने का पुण्य लूट लिया है। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि अठारह वर्ष भूखों मरने के बाद जब यह पेंशन आई है, तो माताजी की भूख जाती रही है! यह पहले से तिहाई-चौथाई रह गई हैं और बूढ़े आदमी की भूख का घटना अन्तिम दिनों के आगमन की सूचना है।

माताजी के भोलेपन की हद नहीं। उनकी बस दो इच्छाएँ बाकी हैं—एक तो वे किसी लड़के के विवाह में 'बन्ना' गाना चाहती हैं और दूसरे द्वारिकाजी के दर्शन करना चाहती हैं! यह बात ध्यान देने योग्य है कि आज़ाद का बड़ा भाई जो पोस्टमैन था, इक्कीस वर्ष की उम्र में जाता रहा था। माताजी कहती थीं—"मैं उसका विवाह करने के लिए उन्नाव जाने-वाली थी।" माताजी 'बन्ना' नहीं गा सकीं। चार बच्चों को और अन्त में चन्द्रशेखर को खोकर माताजी की गोद तो बिल्कुल सूनी हो गई, पर वात्सल्य का स्रोत जहाँ-का-तहाँ बना रहा। वह नहीं सूखा। माताजी के मुख से कभी-कभी बड़े मर्मभेदी वाक्य निकल पड़ते हैं—"बेटा! लोहा भट्टी में जल जाता है, पत्थर भी टूट-टूटकर राख बन जाता है, पर मेरा जी तो देखो कि वह पत्थर और लोहे से भी कड़ा है, अठारह-अठारह वर्ष से भट्टी में जल रहा है और अभी तक नहीं टूटा!"

चलते समय माताजी ने तीनों लड़कियों को एक-एक रुपया दिया। उन्होंने कहा—"माताजी, एक ही रुपये में से हम तीनों बाँट लेंगी।" पर

माताजी बोलीं—"तुम हमारी बिटिया नहीं हो ? बोलो !" लड़कियों ने कहा—"तुम्हारी बिटिया हैं।" माताजी ने कहा—"तो फिर हमारा हुक्म मानो। अपने मन की मिठाई मँगाके खा लेना।" इस तर्क का उत्तर भला क्या हो सकता था ? मिठई को जब माताजी ने चवन्नी दी तो उसने भी मना किया। माताजी ने तुरन्त कहा—"तुम हमारे बेटे नहीं हो ?" चवन्नी लेनी पड़ी।

चलते वक्त मास्टर रुद्रनारायणजी बोले—"चौबेजी, एक काम तुम करा दो, तो माताजी को कुछ सन्तोष हो सकता है। भावरा में, जहाँ आज़ाद का जन्म हुआ था, कोई स्मारक बनवा दो—एक कमरा और बरामदा ही सही और आज़ाद के कार्यक्षेत्र झाँसी में या अलफ्रेड-पार्क प्रयाग में उनकी एक मूर्ति।"

मास्टरजी स्वयं अत्युत्तम चित्रकार तथा श्रेष्ठ मूर्तिकार भी हैं। मैंने कहा-"मास्टरजी, किसे इतनी फिक्र है कि माताजी के अन्तिम दिनों में उन्हें सन्तोष दे ? हाँ, श्री जवाहरलालजी ने ढाई सौ रुपये माताजी के नाम भेजे हैं और भविष्य में भी प्रबन्ध करने का वचन दिया है, पर ऐसी सहृदयता तथा कर्तव्यशीलता क्या हमारे अन्य नेताओं अथवा धनाढ्यों में भी है ? 'इण्डिया रिपब्लिक' बनने जा रही है, पर इण्डियन रिपब्लिकन आर्मी के संचालक चन्द्रशेखर आज़ाद को लोग भूल गये हैं ! और फिर इधर कोने में पड़े हुए पत्रकार की बात सुनेगा कौन ?"

मोटर तैयार थी, माताजी चल दीं। आँखों के सामने आज़ाद का और उनके माता-पिता का जीवन चल-चित्र की भाँति एक साथ घूम गया।

आज़ाद का साबूदाना खाना। माथे पर वह डिठौना। वर्फी का प्रेम, पिताजी का अक्खड़पन। माताजी की कोमलता। चन्द्रशेखर का घर से भागना। काशी पहुँचना। जेल में बेतों की सजा। आज़ाद की वह भीष्म-प्रतिज्ञा : 'सरकार मुझे जिन्दा न पकड़ सकेगी।'

आज़ाद का जवाहरलालजी से मिलन और उसके वाद की वे सव घट-नाएँ जो भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का अध्याय ही वन चुकी हैं।

और अलफ्रेड-पार्क में माताजी का वह करुण विलाप !

आज़ाद फरवरी १९३१ में शहीद हुए और तव से १८ वर्ष तक हम लोगों द्वारा माताजी की वह घोर उपेक्षा !

क्या कोई कृत्रिम सिनेमा इस सजीव चित्र का कभी मुकाबला करेगा ?

जुलाई १९५०

'बहता पानी निर्मला—'

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

मुझे बचपन से नक्शे देखने का शौक है। आप समझेंगे कि कुछ भूगोल विज्ञान की तरफ़ प्रवृत्ति होगी—नहीं, सो बात नहीं; असल बात यह है कि नक्शों के सहारे दूर-दुनिया की सैर का मज़ा लिया जा सकता है। यों तो वास्तविक जीवन में भी काफ़ी घूमा-भटका हूँ, पर उससे कभी तृप्ति नहीं हुई, हमेशा मन में यही रहा कि कहीं और चलें; कोई और नयी जगह देखें, और इस लालसा ने अभी भी पीछा नहीं छोड़ा है। नक्शों से यह फ़ायदा होता है कि मन के घोड़े पर सवार हो कर कहीं चले जाइये, कोई रोक नहीं, अड़चन नहीं, और जब चाहे लौट आइए, या न भी लौटिए—कोई पूछने वाला नहीं कि कि हज़रत कहाँ रम रहे !

यों तो नक्शों में तरह-तरह के रंगों से कुछ मदद मिलती है यह तै करने में कि कहाँ जावें—जिसे हरी-भरी जगह देखनी हो वह नक्शों की हरी-भरी जगहों में घूमे, जिसे पहाड़ी प्रदेश देखने हों वह भूरे या पीले प्रदेशों में चला जाय, और जिसे एकदम अछूते; अपरिचित प्रदेश में जाने का जोखिम पसन्द हो वह बिल्कुल सफ़ेद हिस्सों की ओर चल निकले—अनादिकालीन बर्फ़ीले मरु-प्रदेशों में, जंगलों में, समुद्र में; समुद्र-द्वीपों में···नक्शों में कहीं लिखा रहता है कि 'इस प्रदेश की सर्वे नहीं हुई—

हिमालय के अनेक भाग ऐसे हैं'—या कि 'अगम्य जंगल !'—असमिया सीमा-प्रदेश में ऐसे स्थल हैं; जरा कल्पना कीजिए ऐसी जगहों में जा निकलने का आनन्द !

लेकिन इससे अधिक सहायता मिलती है जगहों के नामों से। बचपन में एक नाम पढ़ा था 'अमरकंटक' : यह नाम ही इतना पसन्द आया कि मैंने चुपके से एक कम्बल और दो-चार कपड़ों का बंडल बना लिया कि अभी चल दूँगा वहाँ के लिए ! वह जाना नहीं हुआ, अभी तक भी अमर-कंटक नहीं देखा है और इस प्रकार उसका काँटा अभी तक सालता ही है, पर नक्शे की यात्रा तो कई बार की है, और अमरकंटक के बारे में उतना सब जानता हूँ जो वहा जा कर जान पाता। ऐसा ही एक और नाम था तरंगम्बाड़ी—यों नक्शों में उसका रूप विकृत होकर त्रांकुबार हो गया है। 'तरंगों वाली बस्ती'—सागर के किनारे के गाँव का यह नाम सुन कर क्या आप के मन में तरंग नहीं उठती कि जा कर देखें ? कई नाम ऐसे भी होते हैं जिन का अर्थ समझ में नहीं आता, पर ध्वनि ही मोह लेती है। जैसे 'तिरुकुरंगुडि'—नाम सुन कर लगता है, मानों हिरनों का समूह चौकड़ी भरता जा रहा हो। कुछ नाम ऐसे भी होते हैं कि अर्थ जानने पर ही उनका जादू चलता हैं जैसे, 'लू-हित'; ऊपरी ब्रह्मपुत्र के इस नाम को संस्कृत कर के लौहित्य बना लिया गया है जिस से अनुमान होता है कि यह लाल या ताम्र वर्ण की होगी पर वास्तव में लू-हित का अर्थ है 'तारों की राजकन्या' या ऐसा ही कुछ। ब्रह्मपुत्र का सौन्दर्य जिन्होंने नहीं देखा तो बात ही क्या, जिन्होंने देखा भी है वे भी क्या इस नाम को जान कर 'तारों की राजकन्या' के तरुण लावण्यमय रूप को देखने को ललक न उठेंगे ?

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात" : मैं कुछ होनहार बिरवा तो नहीं था; पर नक्शों के बग़दादी कालीन पर बैठ कर हवाई यात्रा करने की इस आदत से यह तो पता लग ही सकता था कि आगे चल कर भी कहीं टिक कर नहीं बैठूँगा। बात भी ऐसी है, लगातार कुछ

दिन भी एक जगह रहता हूँ तो कुछ अपनी इच्छा से नहीं, लाचारी से; और उस लाचारी में बहुत से नक्शे जुटा कर फिर अपने लिए कोई हीला निकाल ही लेता हूँ। और आप सच मानिए, जीने की कला सब से पहले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की कला है—कम से कम आधुनिक काल में, जब मानव-जाति का इतना बड़ा अंश या तो प्रवासी है, या शरणार्थी ही : एक स्थान से दूसरे स्थान, एक पेशे से दूसरे में; एक घर से दूसरे घर, इत्यादि !

यात्रा करने के कई तरीके हैं। एक तो यह कि आप सोच-विचार कर निश्चय कर लें कि कहाँ जाना है, कब जाना है, कहाँ-कहाँ घूमना है, कितना खर्च होगा : फिर उसी के अनुसार छुट्टी लीजिए टिकट कटवाइये, सीट या बर्थ बुक कीजिए; होटल डाक-बँगले को सूचना दे कर रिजर्व कराइये या भावी अतिथेयों को खबर दीजिए—और तब चल पड़िये। बल्कि तरीका तो यही एक है—क्योंकि यह व्यवस्थित तरीका है। और इस में मज़ा बिल्कुल नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत से लोग ऐसे यात्रा करते हैं और बड़े उत्साह से भरे वापस आते हैं।

दूसरा तरीक़ा यह है कि आप इरादा तो कीजिए कहीं जाने का, छुट्टी भी लीजिए, इरादा और पूरी योजना भी चाहे घोषित कर दीजिए, पर ऐन मौके पर चल दीजिए कहीं और को। जैसे घोषित कर दीजिए कि आप बड़े दिनों की छुट्टियों में बम्बई जा रहे हैं, लोगों को ईर्ष्या से कहने दीजिए कि अमुक बम्बई का सीज़न देखने जा रहा है, मगर चुपके से पैक कर लीजिए जबरदस्त गर्म कपड़े और जा निकलिए बर्फ से ढँके श्रीनगर में !

लेकिन अपनी भी कुछ बात कहूँ। मैं दूसरे तरीक़े का कायल हूँ यह तो आप समझ ही गये होंगे लेकिन निकलता ही हूँ, तब एक तीसरा तरीक़ा ही अख्तियार करता हूँ। जैसे कहा तो सब से यह कि बम्बई जा रहे, मगर जब स्टेशन गये तो यह तै कर के कि नैनीताल जा रहे

हैं और वहाँ से हिमालय के भीतरी प्रदेशों में, और इस तरह जा निकले — शिलङ् !

शिवसागर से आगे सोनारी के पास डि-खू नदी की बाढ़ में कैसे फँस गया था, इसका यही रहस्य है।

अँग्रेजी में कहावत है कि "एक कील की वजह से राज्य खो जाता है'—वह यों कि कील की वजह से नाल, नाल की वजह से घोड़ा, घोड़े के कारण लड़ाई, और लड़ाई के कारण राज्य से हाथ धोना पड़ता है।' हमारे पास छिनने को राज्य तो था नहीं, पर एक दाँत माँजने के ब्रुश और मोटर की एक मामूली-सी ढिबरी के लिए हम कैसी मुसीबत में पड़े यह हमी जानते हैं !

सोनारी एक छोटा-सा गाँव है—अहाम राजाओं की पुरानी राजधानी शिवसागर से कोई अठारह मील दूर। वहाँ भी नाम के आकर्षण से चला गया था। यों असम में 'सोना' या 'स्वर्ण' बहुत से नामों में है—सुवनश्री, सोन-भराली, वगैरह—और असम भी 'सोनार असम' सोने का असम कहलाता है ! बरसात के दिन थे, रास्ता खराब; एक दिन सवेरे घूमने निकला तो देखा कि नदी बढ़ कर सड़क के बराबर आ गयी है। मैं शिवसागर से तीन-चार मील पर था, सोचा कि एक नया दाँत-ब्रुश ले लूँ क्योंकि पुराना घिस चला था; और मोटर की भी एक ढिबरी ठीक करवा कर ही लौटूँ—उस की चूड़ी घिस जाने से थोड़ा थोड़ा तेल चूता रहता था, वैसे कोई बहुत जरूरी काम नहीं था। खैर, इसमें कोई दो घण्टे लग गये, खाना खाने में एक घण्टा और : तीन घण्टे बाद वापस लौटने लगे तो देखा, सड़क पर पानी फैल गया है। पानी गहरा नहीं होगा, यह सोच कर मैं मोटर बढ़ाता चला गया। आगे देखा, सब ओर पानी ही पानी है, सड़क का कहीं पता नहीं लगता, सिर्फ पेड़ों की कतार से अन्दाज लग सकता था। पर पानी बड़े जोर से एक तरफ से दूसरी तरफ बह रहा था, क्योंकि सड़क के एक तरफ नदी थी, दूसरी तरफ नीची सतह के धान के खेत, जिनकी ओर पानी बह रहा था। पानी

के धक्के से सड़क कई जगह टूट गयी थी। मैं फिर भी बढ़ता गया, क्योंकि आखिर पीछे भी तो पानी ही था। पर थोड़ी देर बाद पानी कुछ और गहरा हो गया और उसके धक्के से मोटर भी सड़क पर से हट कर किनारे की ओर जाने लगी। आगे कहीं कुछ दीखता नहीं था क्योंकि सड़क की सतह शायद दो-तीन मील आगे तक बहुत नीची ही थी। सड़क के दोनों ओर जो पेड़ थे उन में कइयों पर साँप लटक रहे थे क्योंकि बाढ़ से बचने के लिए वे पहले सड़क पर आते थे और फिर पेड़ों पर चढ़ जाते थे।

मैंने लौटने का ही निश्चय किया। पर सड़क दीखती तो थी नहीं, अन्दाज से ही मैं बीच के पक्के हिस्से पर गाड़ी चला रहा था। मोड़ने के लिए उसे पटरी से उतारना पड़ेगा—और इधर-उधर सड़क है भी कि नहीं, इसका क्या भरोसा ? मैं और एक जगह देख भी चुका था कि आँखों के सामने ही कैसे समूचा ट्रक दलदल में धँस कर गायब हो जाता है। इसलिए मोटर को बिना घुमाये उलटे गियर में ही कोई ढाई मील तक लाया, यहाँ सड़क कुछ ऊँची थी, उस पर गाड़ी घुमा कर शिव-सागर पहुँचा।

शिवसागर से सोनारी को एक दूसरी सड़क भी जाती थी चायबागानों में से होकर, यह सड़क अच्छी थी पर इसके बीच में एक नदी पड़ती थी जिसे नाव से पार करना होता था। मैंने सोचा कि इसी रास्ते चलें, क्योंकि सामान तो सब सोनारी में था; मैं डाकबँगले से कुछ घण्टों के लिए ही तो निकला था ! शिवसागर में एक तो मोटर की ढिबरी कसवानी थी, और दूसरे दांत-ब्रुश और कुछ तेल-साबुन लेना था, बस। वह भी लौटने की जल्दी के कारण नहीं लिया था !

इस सड़क से नदी तक तो पहुँच गये—वह भी बड़ी मुश्किल से क्योंकि रास्ते में बड़ी फिसलन थी और गाड़ी बार-बार अटक जाती थी। नदी में नाव पर गाड़ी लाद भी ली, और पार भी चले गये : यहाँ भी नदी में बड़ी बाढ़ आयी थी और बहते हुए टूटे छप्पर बता रहे थे कि नदी

को स्वानुभूति के रंग में रंगकर प्रस्तुत किया है। लेखिका ने कम से कम शब्दों में रामा के चरित्र का मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण एवं रंगीन चित्र प्रस्तुत किया है। परिवेश के सटीक और आकर्षक चित्रण में भी उन्हें सफलता मिली है—जैसे बाबूजी ने मां के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की, परन्तु उन्हें चिढ़ाने में वह सुख का अनुभव करते थे। रामा को भी उन्होंने क्षणभर का अतिथि समझा।

रामा महादेवी के सम्पर्क में आया विलक्षण व्यक्ति है। उसमें संवेदनाएं हैं। महादेवी ने उन संवेदनाओं को सहज भाव से पकड़ा है यही उनकी और इस रेखाचित्र की खास विशेषता है। भाषा भी पात्रानुकूल है और शैली कवित्वपूर्ण है। वर्णन भी संक्षिप्त और यथार्थ परक है। 'रामा' में लेखिका ने उद्देश्य को उपदेश की भाँति थोपने की कोशिश नहीं की है। जो कुछ है वह रेखाचित्र में समाहित है।

रिपोर्ताज

अदम्य जीवन

रांगेय राघव

रचनाकार का परिचय

डॉ० रांगेय राघव ने हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है, लेकिन कथाकार के रूप में वह विशेष रूप से स्थापित हैं। रांगेय राघव का जन्म भरतपुर जिले के 'वैर' कस्बे में १७ जनवरी १९२३ को हुआ था। पिता का नाम टी० एन० रंगाचार्य और माता का नाम कनकम्मा था। पिता भारतीय संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान थे। श्री रांगेय राघव ने आगरा विश्वविद्यालय से १९४४ में एम० ए० (हिन्दी) और १९४८ में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। डॉ० रांगेय राघव का विवाह १९५६ में हुआ। इनकी पत्नी का नाम सुलोचना है। लेखनजीवी होने के कारण इन्हें बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। राघवजी ने १७ काव्य, ५ नाटक, दो निबंध संग्रह, १३ आलोचना ग्रंथ, एक शोध प्रबंध और ३९ उपन्यास लिखे। उपन्यासों में 'मुर्दों का टीला' और 'कब तक

पुकारूँ' विशेष प्रशंसित रहा। इन्होंने एक रिपोर्ताज 'तूफानों के बीच' लिखा । राघव जी को हिन्दुस्तानी अकादमी पुरस्कार, डालमिया पुरस्कार, उत्तर प्रदेश सरकार पुरस्कार, राजस्थान साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा मरणोपरांत महात्मा गांधी पुरस्कार मिला। राघव जी का देहावसान १२ सितम्बर १९६२ को हुआ।

मूल्यांकन

'अदम्य जीवन' डॉक्टर रांगेय राघव के रिपोर्ताज 'तूफानों के बीच' से लिया गया है। रिपोर्ताज में लेखक यह प्रयत्न करता है कि पूरी स्थिति का सम्यक वर्णन प्रस्तुत किया जाय और वर्ण्य वस्तु का एक भी जरूरी अंश छूटने न पाये। कभी-कभी वर्णन को सजीवता प्रदान करने के लिए नाटकीयता का भी प्रयोग किया जाता है।

प्रस्तुत रिपोर्ताज में डाक्टर रांगेय राघव ने आजादी से पहले बंगाल में पड़े भीषण अकाल से पीड़ित लोगों की दुर्दशा एवं दीन-हीन अवस्था का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक अकाल पीड़ित गाँवों के भीतर घुसता चला जाता है और भीतर से अनेक छिपे तथ्य भी बाहर निकालता है। वह एक-एक आदमी से मिलता है, उसकी व्यथा कथा सुनता है और फिर उसे अपने शब्दों से मूर्त करता है। हर आदमी अकाल के दंश की कहानी अपने-अपने ढंग से कहता है। वर्णन की जीवंतता इसी से जाहिर होती है कि लगता है जैसे आप सब कुछ अपनी आँखों से देख रहे हों।

'अदम्य जीवन' में घटनाओं का केवल सिलसिलेवार वर्णन नहीं है, उसमें लेखक के संवेदनशील हृदय का निजी उत्साह भी है जो घटनाओं की वास्तविकता पर कोई आवरण नहीं डालता और उन्हें अनावृत रूप में प्रस्तुत कर और प्रभावपूर्ण बना देता है। रिपोर्ताज में छोटी-छोटी घटनाएँ अलग-अलग बिखरी पड़ी हैं, लेकिन पाठकों पर उनका सामूहिक प्रभाव पड़ता है।

रिपोर्ताज में घटना या दृश्य की प्रधानता होती है। इस दृष्टि से लेखक को परिस्थिति और वातावरण का प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत करना होता है। लेखक को एक वृद्ध अकाल के दुष्प्रभाव के बारे में बताता है। यह बात रिपोर्ताज में इस तरह प्रस्तुत की गई है। सारा गाँव कब्रों से भरा है।

वह कहता है "शिद्धिर गंज के हाल चाल सुनना चाहते हो ? एक दो तीन गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक गिनते चले जाओ। कसम है, अगर तुम किसी को हाय-हाय करते पाओ। नहीं, आज कुछ नहीं है। था एकदिन जब गांव में रोने-कराहने के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं देता था, मगर अब तो वह सब कुछ नहीं।"

'अदम्य जीवन' सामयिकता से कटा नहीं है, क्योंकि वर्तमान से जुड़ा होना रिपोर्ताज की अनिवार्य शर्त है। इसमें कल्पना के जरिए घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। जो कुछ होता है वह तथ्य परक होता है, लेकिन इस तथ्य-परकताके साथ एक कथात्मकता भी होती है। वस्तुस्थिति से कथात्मकता के जुड़ने से रिपोर्ताज की वर्णन शैली कथा की तरह रोचक हो जाती है। 'अदम्य जीवन' में भी लेखक डॉक्टर रांगेय राघव ने अपनी लेखन-कला और साहित्यिक प्रतिभा का भरपूर उपयोग किया है। कहीं-कहीं वर्णन इतना सजीव भावपूर्ण और कलात्मक है कि पाठक का हृदय उसे पढ़कर आंदोलित हो उठता है। लेखक ने इस रिपोर्ताज में इस बात का पूरा प्रयास किया है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति या कलात्मक वर्णन परिदृश्य को बोझिल न बना दे।

जीवनी

शरत को जब यौवन ने छुआ था

विष्णु प्रभाकर

रचनाकार का परिचय

विष्णु प्रभाकर जी का जन्म २१ जून १९१२ ई० में मीरनपुर ग्राम जिला मुजफ्फर नगर (उ० प्र०) में हुआ। पंजाब से बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आपने हिन्दी लेखन के क्षेत्र में प्रवेश किया। आपने हिन्दी कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, रेखाचित्र और जीवनी विधाओं में अनेक रचनाएँ की। आप द्वारा रचित कृतियाँ हैं—उपन्यास—ढलती रात, स्वप्नमयी; कहानी संग्रह—आदि और अंत, संघर्ष के बाद; नाटक—नवप्रभात;

रेखाचित्र और संस्मरण—जाने अनजाने, एकांकी संग्रह— डाक्टर, प्रकाश और परछाइयाँ; जीवनी—आवारा मसीहा। आपकी विभिन्न रचनाएँ हमें सर्वथा नयी भावभूमि से परिचित कराती हैं। यह भावभूमि यथार्थ, आदर्श और स्वाभाविकता की टकराहट से निर्मित हुई हैं।

मूल्यांकन

प्रख्यात साहित्यकार विष्णु प्रभाकर का साहित्य की जीवनी लेखन विधा में विशिष्ट स्थान है। 'शरत को जब यौवन ने छुआ था' 'आवारा मसीहा' से लिया गया है। 'आवारा मसीहा' विष्णु प्रभाकर कृत शरत चन्द्र की जीवनी है।

जीवनी लेखन हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की देन है। जीवनी में किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का कालक्रमानुसार वर्णन किया जाता है। यहाँ लेखक ने शरतचन्द्र के जीवन के उस काल की घटनाओं का वर्णन किया है जब वे यौवन काल में प्रवेश कर रहे थे या यौवन ने उनके जीवन को स्पर्श कर लिया था। यहाँ लेखक ने शरत के यौवन की घटनाओं का धारावाहिक वर्णन किया है।

जीवनी के इस अंश में देशकाल और परिस्थितियों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। लेखक ने प्रसंगानुसार उन सबका वर्णन किया है। जीवनी के इस टुकड़े में विष्णु प्रभाकर ने शरत की चारित्रिक विशेषताओं के साथ ही उसके शारीरिक एवं बौद्धिक गुणों का भी वर्णन किया है। इसके साथ ही वह जीवनी के नायक के जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत करते चलते हैं। शरत के बारे में लेखक लिखता है। "उसका प्रेम इतना मौन इतना रहस्यमय था कि उसका ताप ही लोगों को छूता था। उसका रूप कभी किसी के सामने नहीं आ सका। नीरदा कभी कल्पना लोक के एकान्त में उसके पास ऐसे आती थी जैसे नींद में चल रही हो। उसे लिखते देखती रहती पर बोलती नहीं। शरत को यह मौन असह्य तो उठता पर बोलता वह भी नहीं था।"

आवारा मसीहा में विष्णु प्रभाकर ने जीवनी लेखन के लिए जरूरी सभी तत्वों के साथ पूरी-पूरी ईमानदारी बरती है। नायक की वंश परंपरा,

सामाजिक परिवेश और कुल-परिवार का भी वर्णन किया है। विष्णु प्रभाकर पृष्ठभूमि में बराबर मौजूद रहते हैं, एक विवेकशील द्रष्टा की तरह। लेखक अपने नायक के बारे में तो बहुत कुछ लिखता, कहता है, उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर कई ढंग से प्रकाश डालता है, लेकिन अपने बारे में विशेष रूप से कभी कुछ नहीं कहता। जीवनी में कही गयी बाते तथ्यपरक और प्रामाणिक मानी जाती हैं।

'आवारा मसीहा' में विष्णु प्रभाकर ने पहली बार बंगला के श्रेष्ठ उपन्यासकार शरतचन्द्र की सम्पूर्ण जीवनी प्रस्तुत की है। प्रस्तुत अंश में लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि असफल प्रेम ने ही शरतचन्द्र को महान उपन्यासकार बनाया। यौवन के आगमन के साथ ही शरतचन्द्र में प्रेम की एक तड़प पैदा हुई थी। यह तड़प भले ही किसी काल्पनिक प्रेमिका के प्रति रही हो, लेकिन तड़प तो थी ही। शरत की नीरदा भले ही अमूर्त हों, किसी ने उसे न देखा हो, यथार्थ में उसका अस्तित्व भले ही न रहा हो, लेकिन शरतचन्द्र के उपन्यासों तथा अन्य कृतियों में वह कहीं न कहीं दिखाई अवश्य पड़ती है। यह राज्यलक्ष्मी हो सकती है, माधवी हो सकती है।

विष्णु प्रभाकर ने शरत की इस काल्पनिक प्रेमिका को वास्तविक घटना-क्रम से जोड़कर उसे यथार्थ में परिवर्तित करने का उपक्रम किया है। यह निरूपमा हो सकती है। शरत के दोस्त की बहन जो उनकी रचनाओं से प्रभावित है और उनकी प्रशंसक भी। इसी के चलते शरत में निरूपमा के प्रति प्रेम का अंकुरण होता है। विष्णु प्रभाकर ने शरत के यौवन का चित्र खींचते समय यह प्रदर्शित करने की पूरी कोशिश की है कि शरतचन्द्र के प्रेम का आलम्बन उनके लेखन की प्रेरणा स्रोत नीरदा हो या निरूपमा, देवदास की पारो हो या और कोई। सब एक ही हैं। एक नीरदा ही शरत की रचनाओं में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। लेखक ने आलोच्य अंश में इस बात की ओर इंगित किया है कि यद्यपि शरत के जीवन के चरम सत्य तक पहुँचने का कोई मार्ग बोध नहीं है, लेकिन यह सत्य आईने की तरह साफ है कि उनके काल्पनिक प्रेम या वास्तविक प्रेम में असफल होने के

बावजूद शरतचन्द्र को जीवन से विरक्ति नहीं हुई और न ही उन्होंने सामान्य लोगों की तरह आत्मघात की ओर कदम उठाया।

शरत की जीवनी के प्रस्तुत अंश में इस सत्य को उजागर किया है कि नीरदा या निरूपमा यदि शरत को मिल भी जाती तो उन्हें व्यक्तिगत लौकिक तृप्ति होती और वह भी सृष्टि का एक सामान्य अंश बनकर रह जाते, लेकिन उनसे विमुक्त होकर शरत-चन्द्र स्रष्टा बन गये। उन्होंने कालजयी रचनाओं की सृष्टि की। लेखक ने इस ओर भी संकेत किया है कि शरत बंगला के दो महान साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बंकिम बाबू दोनों से प्रभावित थे, लेकिन रवीन्द्रनाथ शरत के मार्गदर्शक बने। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'आंख की किरकिरी' में विधवा के प्रणय को स्वीकृति दी ही, बंकिम ने इसे कभी नहीं स्वीकार किया। शरत ने इस मुद्दे पर बंकिम बाबू की स्थापनाओं से कभी समझौता नहीं किया। शरत की जीवनी के इस अंश में विष्णु प्रभाकर ने उस गुप्त बीज के ऊपर से मिट्टी उठायी है, जो कालान्तर में शरत के साहित्य का विशाल वटवृक्ष बन सका।

आत्मकथा

सृजन का सुख

डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन'

रचनाकार का परिचय

डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन' का जन्म १९०७ ई० में प्रयाग में हुआ। आपकी शिक्षा एम० ए०, पी-एच डी० प्रयाग तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में हुई। सन् १९४२ से १९५२ ई० तक प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक रहे। आप कुछ समय तक आकाशवाणी के साहित्यिक कार्यक्रमों से भी संबद्ध रहे। आपकी ख्याति कवि के रूप में सर्वाधिक रही। आपकी मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा निमन्त्रण, एकांत संगीत आकुल अन्तर आदि काव्य कृतियाँ विशेष लोकप्रिय रही। मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश काव्यकृतियों से ही हिन्दी में हालावादी काव्यान्दोलन का सूत्रपात हुआ। आपका हालावादी दर्शन उमर खैयाम के दर्शन से बहुत सीमा तक

प्रभावित रहा। बच्चन जी राष्ट्रीय आन्दोलन से भी जुड़े रहे। बच्चन जी ने कहानी, निबंध, नाटक, आत्मकथा, डायरी आदि विधाओं में भी लेखनी चलाई।

इनके निबंध कवियों में सौम्य पंत, नये पुराने झरोखे, टूटी छूटी कड़ियाँ नामक संग्रह में संगृहीत हैं। जिनमें ५९ निबंध, १० परिचर्चाएँ और २ साक्षात्कार हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ भाग ३ में आपकी कहानियाँ संगृहीत हैं। आपने शेक्सपियर के ओथेलो, मैकवेथ, हैमलेट आदि नाटकों का काव्य नाट्यरुपान्तरण किया। हिन्दी के आत्मकथा साहित्य में आपकी क्या भूलूँ क्या याद करूँ, नीड़ का निर्माण फिर, बसेरे से दूर और दशद्वार से सोपान तक विशेष रूप से प्रशंसित है। 'प्रवास की डायरी' डायरी विधा की कृति है।

मूल्यांकन

'सृजन का सुख' प्रख्यात कवि एवं साहित्यकार डॉ० हरिवंश राय वच्चन की आत्मकथा के प्रथम खण्ड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' से लिया गया है। बच्चन जी की आत्मकथा चार खण्डों से प्रकाशित हुई है—क्या भूलू, क्या याद करूँ, नीड़का निर्माण फिर, बसेरे से दूर और दशद्वार से सोपान तक। हिन्दी साहित्य की आत्मकथा विधा में वच्चन की कृतियाँ निश्चय ही 'मील के पत्थर' साबित हुई हैं।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में जैसा कि इसके शीर्षक से ध्वनित होता है किसी प्रकार की जटिलता या उलझाव नहीं है। शुरुआत ही कुछ इस ढंग से होती है जैसे कोई सदियों पुराना रोचक किस्सा सुनाने वैठा हो। वैसे भी आत्मकथाकार की सफलता की पहली शर्त यह है कि वह सफल किस्सागो हो। अपने जीवन की घटनाओं का क्रमवद्ध एवं रोचक वर्णन ही आत्मकथा है, लेकिन इस वर्णन के प्रति लेखक को पूर्ण रूप से ईमानदार भी होना पड़ता है। 'क्या भूलू क्या याद करूँ' में लेखक के वंश परिवार से संबंधित ढाई सौ साल का इतिहास भी है। पूरे खण्ड में रक्त का रक्त के प्रति रुझान का प्रभावशाली वर्णन तो है ही, लेखक का कायस्थ कुल में पैदा होने का गौरव भी स्पष्ट दिखाई देता है। आत्मकथा में बच्चन ने गौरव और गरिमा के वर्णन में भी जागरूकता, संयम और विवेक का परिचय दिया है।

आत्मकथा का असली और सीधा अंश तब आरम्भ होता है जब लेखक छोटी-छोटी बातों का बडी-बड़ी यादों का तीव्रता से दृश्य छायांकन करता है। सच्ची घटनाओं का वर्णन भी रोचक और सार्थक है। श्यामा के साथ कारुणिक प्रणय-प्रसंग के बाद लेखक पर गांधी जी का प्रभाव है। अंग्रेजी में एम० ए० (प्रीवियस) करके पढ़ाई छोड़ दी। 'चांद' पत्रिका में एक महीने की नौकरी फिर माडर्न स्कूल में अध्यापकी। वर्ष भर बाद प्रयाग महिला विद्यापीठ में तीस रुपये प्रति माह की नौकरी फिर कहानी लेखन के प्रति रुझान और इसी बीच प्रथम कविता-संग्रह का प्रकाशन। आत्मकथा के 'इस अंश' सृजन के सुख में बच्चन के इसी अनुभूति का जीवंत चित्रण है।

'क्या भूलूं, क्या याद करूं' पुस्तक का पहला महत्त्वपूर्ण अंश है कायस्थ कुल का सात पुरखा-पीढ़ियों का रोचक वर्णन। यद्यपि इस वर्णन को आवश्यकता से अधिक खींचा गया है फिर भी रोचक है। पुस्तक का दूसरा अंश बच्चन के बचपन का अंश है। इसमें बच्चन की भाषा शैली की अल्हड़ता-मस्ती और उनके व्यक्तित्व की फक्कड़ता की झलक दिखाई देती है। पुस्तक का तीसरा और अंतिम अंश लेखक की किशोरावस्था के प्रणय प्रसंगों और जीवन के संघर्षों से जुड़ता चलता है। एक सुखान्त कहानी खत्म होती है और दूसरी दुखान्त कहानी शुरू होती है। पर्दा उठता है, पर्दा गिरता है और फिर उठता है। फिर बच्चन का कवि कहानीकार रचनाकार का रूप सामने आता है। सृजन की प्रेरणा होती है, फिर सृजन होता है और अन्त में सृजन के सुख की अनुभूति होती है।

'क्या भूलू, क्या याद करूं' के इस अंश 'सृजन का सुख' में 'आत्मकथा' की सभी विशेषताएं स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। बच्चन इसके लेखक हैं और आत्मकथा के नायक भी। उनके जीवन की घटनाएं और साहित्य-सृजन से जुड़े खट्टे-मीठे अनुभवों को आत्मकथाकार ने इस अंश में रेखांकित किया है। आत्मकथा की दूसरी आवश्यक शर्त है कि इसमें लेखक केवल आत्मविश्लेषण नहीं करता बल्कि बाह्य जगत की घटनाओं का भी संगति और प्रसंग के अनुसार वर्णन करता है। लेखक के जीवन की घटनाएं बाह्य प्रभावों से प्रभावित होती सी दिखती हैं और बाह्य जगत लेखक की अपनी जिन्दगी से प्रभावित होता है।

बच्चन की आत्मकथा में काल्पनिक अंश नहीं है, यद्यपि बच्चन कल्पना शील कवि थे। वैसे भी आत्मकथा में काल्पनिक प्रसंगों के लिए कोई स्थान नहीं है। बच्चन ने 'सृजन के सुख' में अपनी रचनाओं के प्रकाशन के बारे में जो कुछ लिखा है वह प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित है। शैली वस्तुतः इतनी प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी है कि अंत तक पाठक के मन और मस्तिष्क पर छायी रहती है और उससे वह बहुत कुछ सीखता-सा महसूस करता है। अनेक स्थलों पर दो टूक स्पष्टवादिता है और कहीं-कहीं बेखौफ निर्भीकता भी।

पहली रचना के प्रकाशन पर बच्चन को जिस सुख की अनुभूति हुई थी उसे वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"हाँ, मैं उड़ा जा रहा था, मेरे पैर जैसे धरती पर नहीं पड़ रहे थे। मेरी सर्वप्रथम कृति प्रकाशित हो गई थी। पहली बार अनुभूति हुई कि कवि की पहली रचना का प्रकाशन उसके लिए उतना ही रोम प्रहर्षक होता है जितना प्रेयसी का प्रथम आलिंगन।' इस तरह बच्चन ने शैली को न केवल यथार्थ परक बनाया है बल्कि उसमें अद्भुत ढंग की रोचकता भी भर दी है।

एक बात बच्चन बड़े सहज ढंग से स्वीकार करते हैं कि 'तेराहार' की उस समय जो आलोचना हुई थी आज भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण लगे लेकिन उस समय मुझे उन आलोचनाओं से प्रोत्साहन मिला था। विश्वास को भी प्रोत्साहन चाहिए। बच्चन 'आत्मकथा' में झूठ बोलते दिखाई नहीं देते। पत्र-पत्रिकाओं में अपनी प्रशंसा पढ़कर लेखक को सुख हुआ था। इसके साथ ही बच्चन लिखते हैं कि लोगों ने उन्हे कला में सिद्धहस्त बताया था, लेकिन कला मुझमें कितनी है इसे मैं बखूबी जानता था। यही बात तब प्रकट होती है जब बच्चन कहते हैं कि हैं कि अनुवाद करना मेरे जीवन की विवशता थी।

संस्मरण

आजाद की माता जी

बनारसीदास चतुर्वेदी

रचनाकार का परिचय

बनारसी दास चतुर्वेदी की गणना प्रखर पत्रकार एवं मुखर साहित्यकार के रूप में होती हैं। चतुर्वेदी जी का जन्म २४ दिसम्बर १८९२ ई० को फिरोजाबाद में हुआ था। पत्रकार बनने से पहले ही इनमें हिन्दी साहित्य के प्रति अभिरुचि जागृत हो चुकी थी। चतुर्वेदी जी ने 'विशाल भारत' से पत्रकारिता की शुरूआत की। बनारसीदास ने 'विशाल भारत' छोड़ने के बाद टीकमगढ़ से 'मधुकर' का संपादन करना प्रारंभ किया। हिन्दी प्रेमी होने के कारण ओरछा नरेश इनका बहुत सम्मान करते थे। श्री चतुर्वेदी ने जीवन भर पढ़ने लिखने तक ही अपने को सीमित रखा। चतुर्वेदी जी का अध्ययन केवल हिन्दी, संस्कृत और भारतीय साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि अंग्रेजी के माध्यम से आपने पाश्चात्य साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया। रेखाचित्र में चतुर्वेदी जी की पैठ काफी गहरी है। संस्मरणों में भी इन्हें विशेष सफलता मिली है। इनके संस्मरण सही अर्थों में अनुभूतियों के संवाहक हैं। चतुर्वेदी जी अनेक साहित्यिक संस्थानों से जुड़े रहे। उनकी कृतियाँ है—राष्ट्रभाषा, कविरत्न, सत्यनारायण की जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र।

मूल्यांकन

'आजाद की माता जी' पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरण ग्रन्थ 'संस्मरण' से लिया गया है। संस्मरण भी आधुनिक हिन्दी साहित्य की आधुनिकतम विधा है। लेखक ने जो देखा है, जिसका स्वयं अनुभव किया है उसी का वर्णन करता है। लेखक ने आजाद की माता जी के बारे में जो कुछ लिखा है अथवा उनके सान्निध्य में जो कुछ अनुभव किया है उसके वर्णन में लेखक की अनुभूति एवं संवेदनाएं भी निहित हैं।

संस्मरण में आत्मकथा के विपरीत कल्पनाशीलता होती है। भावों, कल्पनाओं और तथ्यों के बीच रोचक शैली में अद्भुत सामंजस्य स्थापित

किया जाता है। इसमें तथ्य लेखक की कोमल कल्पना से अनुरंजित किये जाते हैं। संस्मरण वास्तव में एक व्यक्तिपरक कहानी है। 'आजाद की माता जी' संस्मरण का आरंभ लेखक ने संवाद शैली में किया है। माता जी आ गयी, चलो उनका स्वागत करले। लेखक ने दस वर्ष पहले की बात का आंखो देखा हाल प्रस्तुत किया है।

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के ग्रन्थ 'संस्मरण' का प्रकाशन १९५२ में हुआ था। यह संस्मरण साहित्य की अमूल्य निधि हैं। संस्मरण साहित्य में चतुर्वेदी जी का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। चतुर्वेदी जी की मुख्य विशेषता यह है कि उसकी संस्मरण शैली अभिव्यंजनात्मक है और तथ्यों तथा घटनाओं की अभिव्यक्ति पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि 'आजाद की माता जी' व्यक्ति व्यंजक निबंध या कहानी के काफी समीप पहुँच गया है। संस्मरण में सुनी-सुनायी या दूसरे की अनुभूतियों पर आधारित तथ्यों का विवरण नहीं होता। संस्मरण व्यक्ति की निजी अनुभूतियों पर आधारित है।

'आजाद की माता जी' में संस्मरण लेखक पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी ने संस्मरण की समस्त विशेषताओं का बखूबी निर्वाह किया है। इसमें संस्मरण लेखक और स्मरणीय दोनों की स्थिति एक धरातल पर समान हो गयी है। 'आजाद की माता जी' में लेखक ने महान क्रांतिकारी एवं आजादी के कालजयी योद्धा आजाद की माता जी के व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में देखा है और माता जी के व्यक्तित्व की जो विशेषताएँ हैं और उनका लेखक की मनः स्थिति पर जो प्रभाव पड़ता है उसका भी रोचक, सम्यक एवं समर्थ वर्णन किया गया है। घटनाएँ सब यथार्थ पर आधारित है। जो घटित होता है उसे ही लेखक अपनी अनुभूतियों के सामंजस्य साथ प्रस्तुत करता है।

माता जी को लेखक ने जिस प्रकार देखा, जैसा पाया, उसका रोचक वर्णन इस प्रकार है—"माताजी पुराने विचारों की है। आते ही वे लड़कियों से इस प्रकार मिली-भेंटी मानों वे चिरपरिचित हो और अपने घर में ह

आ रही हो। दो दिनों में ही माता जी इतनी घुल मिल गई कि लड़कियों को उचित आदेश भी देने लगी।"

इससे चतुर्वेदी जी की अभिव्यंजना शैलीका असली रूप प्रकट होता है। यहाँ लेखक ने माताजी के अन्दर छिपी अतृप्त वात्सल्य भावना को पहचान लिया। माता जी के अन्दर यह हसरत हमेशा रह-रह कर जोर मारती है कि कोई भी तो उनकी बात बच्चों की तरह सुने। यही कारण है कि माता जी के रोम-रोम में वात्सल्य भरा हुआ है और लेखक ने इसका अनुभव किया और अपने संस्मरण में इसे विशेष महत्व दिया है।

एक जगह लेखक ने लिखा है "माता जी लड़कियों को अपनी बातें सुनातीं और आजाद का जिक्र करते ही उनका गला भर आता और वे फूट फूट कर रोने लगती।" माता जी जब चन्द्रशेखर आजाद का बचपन याद करती हैं और उसका वर्णन करती तब उन्हें एक तरह के संतोष और आत्मानन्द की अनुभूति होती है।

संस्मरण में संक्षिप्तता और लाघवता भी होनी चाहिए। इस शैली में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को दक्षता प्राप्त है। चतुर्वेदी जी कहते हैं—"आजाद का साबूदाना खाना। माथे पर डिठौंना। बर्फी का प्रेम, पिताजी का अक्खड़पन। माता जी की कोमलता। चन्द्रशेखर का घर से भागना। काशी पहुँचना। जेल में बेतों की सजा। आजाद की वह भीष्म प्रतिज्ञा—'सरकार मुझे जिन्दा न पकड़ सकेगी।' आजाद का जवाहर लाल जी से मिलन और उसके बाद की वे सब घटनाएँ जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अध्याय बन चुकी है—और अलफ्रेड पार्क में माताजीं का करुण विलाप !

अंत में चतुर्वेदी जी कहते हैं—क्या कोई कृत्रिम सिनेमा इस सजीव चित्र का कभी मुकाबला करेगा। 'आजाद की माता जी में आत्मतत्व, संवेदना और अनुभूति का सुन्दर समावेश है। लाघवता और स्पष्टता तथा वर्णन की रोचकता के कारण लेखक का ही नहीं. स्मरणीय का भी पाठक के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है।

यात्रावृत्त

बहता पानी निर्मला

अज्ञेय

रचनाकार का परिचय

सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म ७ मार्च १९११ ई० में हुआ था। इनका बचपन पिता पं० हीरानंद शास्त्री जी के साथ कश्मीर, विहार, मद्रास में व्यतीत हुआ। इनके पिता प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता थे। बाल्यावस्था से ही बालक सच्चिदानन्द अपने अन्य पारिवारिक जनों से दूर पिता के साथ जंगलों एवं पर्वत शिखरों के मध्य बिखरे हुए पुरातत्व अवशेषों के साथ रहे। उन्होंने मद्रास और लाहौर में शिक्षा प्राप्त की। १९२९ ई० बी० एस-सी की परीक्षा उत्तीर्ण करके एम-ए० अंग्रेजी साहित्य में प्रवेश लिया पर अंतिम वर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए चलने वाले आंदोलनों में पढ़ाई छोड़कर कूद पड़े। चार वर्ष जेल में और दो वर्ष नजरबंद रहना पड़ा। सन् १९४३ में सेना में भर्ती हो गये। सन् १९४९ में सेना से त्यागपत्र देकर स्वतंत्र जीवन यापन करने लगे। सन् १९५५ में यूनेस्को द्वारा मिली छात्र-वृत्ति पर यूरोप गये। १९५७ में जापान तथा अन्य देशों की यात्रा की। कुछ समय तक अमेरिका में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के अध्यापक रहे तत्पश्चात् जोधपुर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य तथा भाषा अनु-शीलन विभाग के निदेशक रहे। आपने सैनिक, विशाल भारत, बिजली, प्रतीक, दिनमान, नवभारत टाइम्स आदि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया। आपको 'कितनी नावों में कितनी बार' काव्य कृति पर ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। जीवन के अंतिम दिनों तक साहित्य सृजन में लगे रहे। आपका ४ अप्रैल १९८७ में स्वर्गवास हो गया।

अज्ञेय जी ने कविता और गद्य दोनों ही क्षेत्रों में सशक्त रचनाएँ की हैं। इन्होंने सन् १९४३ में तारसप्तक नामक कविता संग्रह का प्रकाशन करके

हिन्दी कविता में एक नवीन काव्यांदोलन की घोषणा की। जिसे प्रयोगवाद नाम दिया गया।

अज्ञेय जी ने गद्य की विधाओं—निबन्ध, यात्रावृत्त, उपन्यास, कहानी आदि- में लेखनी चलाई। अज्ञेय जी का पूरा साहित्य भाव एवं शिल्प की दृष्टि से श्रेष्ठता के सभी प्रतिमानों का स्पर्श करता हुआ दिखाई देता है। आपकी काव्यकृतियाँ हैं,- अरी ओ करुणा प्रभामय, आंगन के पार द्वार, बावरा अहेरी, कितनी नावों में कितनी बार, हरी घास पर क्षण भर, इत्यलम, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ, चिंता, पूर्वा, सुनहले शैवाल, भग्नदूत आदि। इसके अतिरिक्त 'प्रिजन डेस एण्ड अदर पोएम्स' नाम से अज्ञेय की अंग्रेजी में पुस्तक प्रकाशित हुई। आपने तारसप्तक तथा दूसरा, तीसरा सप्तकों का संपादन भी किया। इनके कहानी संग्रह हैं—विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात, शरणार्थी, जयदोल। इनके उपन्यासों ने विशेष ख्याति अर्जित की है। इनके उपन्यास हैं—शेखर: एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी। देशाटन में इनकी विशेष रुचि रही हैं। यात्रावृत्तों का संकलन 'अरे यायावर रहेगा याद' तथा 'एक बूँद सहसा उछली' नाम से प्रकाशित हैं। आपके निबंध 'त्रिशंकु', 'आत्मने पद', 'हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य', 'सब रंग और कुछ राग', 'लिखि कागद कोरे' नामक संग्रह में संगृहीत हैं।

मूल्यांकन

अज्ञेय की यायावरी प्रवृत्ति ही उनके यात्रावृत्तों या साहित्य की अन्य विधाओं में परिलक्षित होती है। यह यायावरी प्रवृत्ति ही उनके साहित्य सृजन का आधार है। यात्रावृत्त लिखने वाले में जिज्ञासा और कौतूहल प्रमुख होता है और जो कुछ वह लिखता है उसी का प्रतिफल है। 'बहता पानी निर्मला' अज्ञेय के यात्रावृत्त 'अरे यायावर रहेगा याद' से लिया गया है। यायावर ही जनसाधारण से जुड़ा साहित्यकार होता है। यात्रा लेखक में ऊष्मा और गति का संचार करती है।

यात्रावृत्त में देखे गये स्थानों का केवल विवरण ही नहीं बल्कि यात्रा के दौरान दृश्यों और स्थलों के साथ भोगी गयी जिन्दगी का क्रमबद्ध और भावुकतापूर्ण रेखांकन भी होता है। यात्रावृत्त में निबंध जैसी व्यापकता, विचारशीलता, कथा जैसी रोचकता और हृदयग्राह्यता तथा संस्मरण जैसी यथार्थवादिता के दर्शन एक साथ हो सकते हैं। यात्रावृत्त को किसी एक प्रकार की शैली में बांधा नहीं जा सकता।

अज्ञेय को जीवन-बीथियों पर लगातार चलते रहने की आदत थी। एक तलाश उनकी जिन्दगी के आखिरी क्षण तक चलती रहीं जो जीवन के निर्विशेषत्व को तलाश थी। अज्ञेय ने अपने विराट साहित्य में कई स्थलों पर यह बात स्वीकार की है। यात्रावृत्त लेखन की शुरूआत भारतेन्दु काल से शुरू होकर आधुनिक काल में नागार्जुन तक चली आई है। अज्ञेय मूलतः कवि हैं, अतः उनके यात्रावृत्त पर भी उनका कवि हावी रहता है।

यात्रावृत्त की दो मूल विशेषताएँ हैं—तथ्यात्मकता और जिन्दादिली। यायावर में जिन्दा दिली तो होती ही है और यदि मूलतः रचनाकार है और तथ्यों के क्रमबद्ध रेखांकन में उसकी पैठ है तो तथ्यात्मकता आ ही जाती है। 'अरे यायावर रहेगा याद' में अज्ञेय ने मार्गी परम्परा की शुरुआत की। यही कारण है कि उनके यात्रा संस्मरण प्रामाणिक और जीवन से बड़ी गहराई से जुड़े हुए हैं। यात्रावृत्त विधा की इस नई शैली का निर्वाह बाद में मोहन राकेश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और निर्मल वर्मा जैसे लेखकों ने किया।

यात्रावृत्त लेखन में अज्ञेय का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है। इनकी दोनों कृतियां 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक बूँद सहसा उछली' आलोचकों और पाठकों द्वारा विशेष रूप से सराही गयी। यात्रावृत्त और संस्मरण में एक बारीक फर्क होता है, संस्मरण स्थायी स्मृतियों पर आधारित है और यात्रावृत्त सामयिक स्मृतियों पर। यात्रावृत्त में कुल जमा-पूँजी यथार्थ ही नहीं होता, उसमें लेखक की कल्पना का भी समावेश होता है।

यात्रावृत्त लेखक चरित्रगत विशिष्टताओं और जिन्दगी की वास्तविकता से किस तरह जुड़ता है और उस पर लेखक के चिन्तन, वैचारिकता और बौद्धिकता की छाप किस तरह पड़ती है वह इस उदाहरण में स्पष्ट है—"और आप सच मानिये। जीने की कला सबसे पहले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की कला है—कम से कम आधुनिक काल में जब मानव जाति का इतना बड़ा अंश या तो प्रवासी है या शरणार्थी ही। एक स्थान से दूसरे स्थान और एक पेशे से दूसरे पेशे में। एक घर से दूसरे घर में इत्यादि।"

अज्ञेय ने इस प्रकार पूरे जीवन को यात्रा से जोड़ दिया। जीवन तो यात्रा का ही दूसरा नाम है। यदि यात्रा नहीं तो जीवन जड़ता से अधिक कुछ नहीं। यात्रा रुकी कि जड़ता आई और जड़ता यानी मौत। जीवन यात्रा का अंत ही तो मौत है। अज्ञेय इसके प्रति सजग हैं और उनकी यह सजगता सृजन के किसी भी क्षण में उनका साथ नहीं छोड़ती। अज्ञेय की सूक्ष्म निरीक्षणवृत्ति से कौन इनकार कर सकता है और उनकी जिन्दादिली तथा बात को अपने ढंग से कहने की क्षमता तो सर्वविदित है। ये सारी विशेषताएं इस यात्रावृत्त में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।